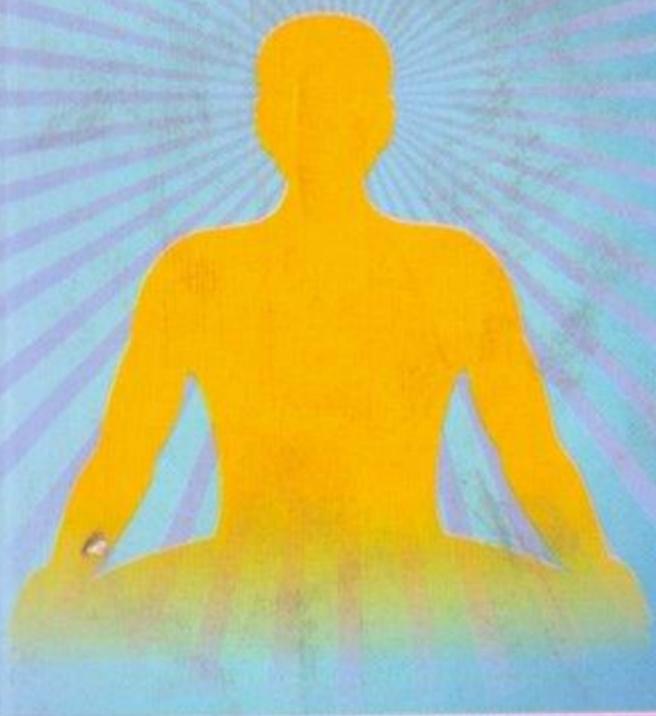


जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता

आत्मज्ञान



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता आत्म-ज्ञान



लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं० - २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मूल्य : २८.०० रुपये

“ज्ञानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यत्।”

—ज्ञान की तुलना में संसार में और
दूसरी निधि (खजाना)
नहीं है।

दो शब्द

आत्मा के विषय में संसार के विद्वानों में बहुत मतपार्थक्य दिखाई पड़ता है। प्राचीन विचारों के अनुयायी मनुष्य शरीर में एक अविनाशी और स्थायी आत्मा का अस्तित्व मानते हैं और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के समर्थक एवं तर्कशास्त्र के ज्ञाता मानव-शरीर में किसी ऐसी वस्तु का होना स्वीकार नहीं करते, जो देह के नष्ट हो जाने के बाद भी कायम रहती हो और इस जीवन काल में किए गए भले-बुरे कामों का फल आगे चलकर भोगती हो। यह “विज्ञानवाद” कुछ वर्ष पहले बहुत जोर पकड़ गया था और आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आत्मा और ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने में अपनी हेठी समझने लगे थे। पर अब चक्र दूसरी तरफ घूमने लगा है और योरोप, अमेरिका के चोटी के वैज्ञानिक भी कहने लगे हैं कि संसार में भौतिक पदार्थों और शक्तियों के अतिरिक्त कोई चैतन्य सत्ता भी है, जिसकी इच्छा और योजना से समस्त विश्व का निर्माण और संचालन होता है।

चाहे इस विचार को तर्क के द्वारा अथवा प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर सकना सहज न हो, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि आत्म-सत्ता को मानने और स्वीकार किए बिना मानव-जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती। आत्म-ज्ञान के विषय को जाने और समझे बिना मनुष्य बेपेंदी के लोटे की तरह बना रहता है, जो कभी इधर और कभी उधर लुढ़क जाता है।

हमारे जीवन का सबसे बड़ा तत्त्व परमार्थ है, पर वह आत्म-ज्ञान के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। केवल भौतिकवाद का अनुयायी स्वार्थ की ओर ही प्रेरित होगा और निष्काम भाव से सेवा तथा परोपकार के धर्म का कभी पालन नहीं कर सकता। दूसरी हानि यह भी है कि आत्म-सत्ता से विमुख व्यक्ति सांसारिक आपत्तियों और कष्टों में अविचलित और धैर्ययुक्त भी नहीं रह पाता, क्योंकि उसके पास स्थिर रहने का कोई आधार नहीं रहता। इसलिए सांसारिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से आत्मा की सत्ता तथा आत्म-ज्ञान को जान लेना अपने और दूसरों के कल्याण के लिए अनिवार्य ही है।

विषय सूची

क्रमांक	पुस्तक का नाम	पृष्ठ संख्या
१.	आत्म-सत्ता और उसकी महान महत्ता	५
२.	हमारा जीवनलक्ष्य—आत्म-दर्शन	९
३.	जीवनोददेश्य से विमुख न हों	१४
४.	येनाहम् नामृतास्याम् किमहम् तेन कुर्याम्	२०
५.	शरीर का ही नहीं, आत्मा का भी ध्यान रखें	२५
६.	अमर हो तुम, अमरत्व को पहचानो	३०
७.	मन से छीनकर प्रधानता आत्मा को दीजिए	३६
८.	मनुष्य और उसकी महान शक्ति	४१
९.	जीवन का दूसरा पहलू भी भूलें नहीं	४८
१०.	आत्मा की पुकार अनसुनी न करें	५१
११.	आत्मा की पुकार सुनें और उसे सार्थक करें	५६
१२.	आत्म-ज्ञान की आवश्यकता क्यों?	६२
१३.	आत्म-ज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति संभव है	६७
१४.	सत्यं शिवं सुंदरम् हमारा परम लक्ष्य	७४
१५.	शक्ति के स्रोत—आत्मा को मानिए	७९
१६.	आत्मा को जानिए	८३
१७.	आत्म-शक्ति का अकूत भंडार	८८
१८.	शक्ति का स्रोत हमारे अंदर है	९२
१९.	सच्चे हृदय से आत्मा का उद्बोधन करें	९७
२०.	चेतन, चित्त-न, चिंतन	१०१
२१.	आत्मा और परमात्मा का संबंध	१०६
२२.	ईश्वर अंश जीव अविनाशी	११०
२३.	परमात्मा को जानने के लिए अपने आप को जानो	११४
२४.	अहम् और उसकी वास्तविक सत्ता	११८
२५.	बिंदु में सिंधु समाया	१२१
२६.	अपूर्णता से पूर्णता की ओर	१२८
२७.	क्या आत्म-कल्याण के लिए गृह त्याग आवश्यक है?	१३४
२८.	आत्म-बल हमारी सबसे बड़ी वैभव-विभूति	१३८
२९.	गहरे पानी पैठ, जिन खोजा तिन पाइयाँ	१४४
३०.	आत्म-विकास के लिए व्रतपालन की आवश्यकता	१४९



जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता

आत्म-ज्ञान

०

आत्म-सत्ता और उसकी महान् महत्ता

जीव की शारीरिक स्थिति पर विचार करें, तो प्रत्यक्षतः यह देखने में आता है कि दो शक्तियाँ अवस्थित हैं। प्रथम-पंचधा प्रकृति जिससे हाथ, पैर, पेट, मुँह, आँख, कान, दाँत आदि शरीर का स्थूल कलेवर बनकर तैयार होता है। इस निर्जीव तत्त्व की शक्ति और अस्तित्व का भी अपना विशिष्ट विधान है जो भौतिक विज्ञान के रूप में आज सर्वत्र विद्यमान है। जड़ की पारमाणविक शक्ति ने ही आज संसार में तहलका मचा रखा है, जबकि उसके सर्गाणुओं, कषणियों, केंद्रपिंड (न्यूकिलअस) आदि की खोज अभी भी बाकी है। यह संपूर्ण शक्ति अपने आप में कितनी प्रबल होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। द्वितीय—शरीर में सर्वथा स्वतंत्र चेतन शक्ति भी कार्य कर रही है, जो प्राकृतिक तत्त्वों की अपेक्षा अधिक शक्तिवान मानी गई है। यह चेतन तत्त्व संचालक है, इच्छा कर सकता है, योजनाएँ बना सकता है, अनुसंधान कर सकता है, इसलिए उसका महत्त्व और भी बढ़—चढ़कर है। हिंदू ग्रंथों में इस संबंध में जो गहन शोधों के विवरण हैं, वे चेतन शक्ति की आश्चर्यजनक शक्ति प्रकट करते हैं। इतना तो सभी देखते हैं कि संसार में जो व्यापक क्रियाशीलता फैली हुई है, वह इस चेतना का ही खेल है। इसके न रहने पर बहुमूल्य, बहु शक्ति संपन्न और सुंदर शरीर भी किसी काम का नहीं रह जाता।

जीवधारियों के शरीर में व्याप्त इस चेतना का ही नाम आत्मा है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान तथा प्रयत्न उसके धर्म और गुण हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शनों में आत्मा के रहस्यों पर विशद प्रकाश डाला गया है और उसे परमात्मा का अंश बताया गया है। यह आत्मा

ही जब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि विकारों का त्याग कर देती है, तो वह परमात्म-भाव में परिणत हो जाती है।

आज भौतिक विचारधारा के लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होते। उनकी दृष्टि में शरीर और आत्मा में कोई भेद नहीं है। इतना तो कोई साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी आसानी से सोच सकता है कि जब उसके हृदय में ऐसे प्रश्न उठते रहते हैं—‘मैं कौन हूँ?’ ‘मैं कहाँ से आया हूँ?’ ‘मेरा स्वरूप क्या है?’ ‘मेरे इस शरीर धारण का उद्देश्य क्या है?’ आदि। ‘मैं यह खाऊँगा’, ‘मुझे यह करना चाहिए’, ‘मुझे धन मिले’—ऐसी अनेक इच्छाएँ प्रति क्षण उठती रहती हैं। यदि आत्मा का पृथक अस्तित्व न होता तो मृत्यु हो जाने के बाद भी वह ऐसी स्वानुभूतियाँ करता और उन्हें व्यक्त करता। मुख से किसी कारणवश बोल न पाता तो हाथ से इशारा करता, आँखें पलक मारतीं, भूख लगती, पेशाब होती, पर ऐसा कभी होता नहीं देखा गया। मृत्यु होने के बाद जीवित अवस्था की सी चेष्टाएँ आज तक किसी ने नहीं कीं। आत्मा और शरीर दो विलग वस्तुएँ दो विलग तत्त्व होने का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

छांदोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय के २६वें खंड में बताया गया है—

“आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाक्, आत्मा से नाम, आत्मा से मंत्र, आत्मा से कर्म और यह संपूर्ण चेतन जगत ही आत्मा से आच्छादित है। इस आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले मनुष्य जीवन-मरण के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।”

बृहदारण्यकोपनिषद् में राजा जनक ने आत्मा के संबंध में श्रीयाज्ञवल्क्य को उपदेश देते हुए कहा है, “यह आत्मा प्राणों में, बुद्धि, वृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष

है। वह लोक-परलोक दोनों में संचार करता है। स्वप्नावस्था में यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा ही विभिन्न लोकों में विचरण करता है।"

भौतिक विज्ञान दरअसल आत्मा के अस्तित्व का खंडन नहीं करता, अपितु वह उसे सिद्ध करने में ही सहायक हुआ है। विज्ञान की उच्च सतह पर न पहुँचने के कारण आज कुछ लोग ऐसी भ्रामक धारणाएँ फैलाए हुए हों, यह दूसरी बात है अन्यथा जिन वैज्ञानिकों ने गहन तत्त्वान्वेषण किए हैं, उनमें से प्रायः सभी ने यह माना है कि पदार्थ जड़ है और आत्मा चेतनायुक्त ज्ञानमय द्रव्य है। इन दोनों के गुणों में असमानता है और आत्मा की शक्ति पदार्थ की शक्ति से बहुत बड़ी है।

जुलाई १९३६ में कलकत्ता से प्रकाशित 'दि मार्डन रिव्यू' में सर ए० एस० एडिंटन तथा प्रो० अलबर्ट आइंस्टीन के आत्म-ज्ञान संबंधी विचार उद्धृत हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—

"संसार में कोई अज्ञात शक्ति काम कर रही है, जिसे हम नहीं जानते कि वह क्या है? फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि वह अधिक शक्तिशाली है। मैं चेतना को मानता हूँ। इस आत्मा के विषय में मुझे अपने मत से कोई विचलित नहीं कर सकता।"

"मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि सारी प्रकृति में एक असीम शक्तिशाली चेतन शक्ति काम कर रही है।"

विश्वविख्यात वैज्ञानिक डॉ० गाल का मत है—"विश्व में केवल एक ही मुख्य तत्त्व है जो देखता है, अनुभव करता है, प्रेम करता है, विचार और स्मृति करता है।"

"जैसे मनुष्य दो दिनों के बीच रात्रि को स्वप्न देखता है। वैसे ही मनुष्य की आत्मा ही मृत्यु तथा पुनर्जन्म के मध्य विभिन्न सांसारिक क्रियाएँ करती है।"—सर ऑलिवर लाज ने इन शब्दों में आत्मा के अस्तित्व पर प्रकाश डाला है।

कुछ दिन पूर्व इस बात को लेकर वैज्ञानिकों में काफी लंबी चर्चा चली थी और आत्मा के अस्तित्व संबंधी उनके मत लिए गए

थे जिन्हें सामूहिक रूप से 'दि ग्रेट डिजाइन' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। पुस्तक में उपसंहार करते हुए लिखा गया है—

"यह संसार कोई आकस्मिक घटना नहीं लगता है। इसके पीछे कोई सुनियोजित विधान चल रहा है। एक मस्तिष्क, एक चेतन शक्ति काम कर रही है। अपनी-अपनी भाषा में उसका नाम चाहे कुछ रख लिया जाए, पर वह मनुष्य की आत्मा ही है।"

इसके अतिरिक्त जे० एन० थामसन, जे० वी० एम० हेल्डन, पी० गोइडेस, आर्थर एच० क्राम्पटन, सर जेम्स जोन्स आदि वैज्ञानिकों ने भी आत्मा के अस्तित्व में सहमति प्रकट की है। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों का पाश्चात्य देशों में भले ही अभाव हो, पर विचार और बुद्धिशील मनुष्यों के लिए यह अनुभव करना कठिन नहीं है कि यह जगत केवल वैज्ञानिक तथ्य तक सीमित नहीं, वरन् उन्हें नियंत्रित करने वाली कोई चेतना भी अवश्य काम कर रही है और उसे जानना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है।

शास्त्रीय कथानकों के माध्यम से आत्मा के अस्तित्व, गुणों और क्रियाओं के संबंध में बड़ी ही ज्ञानपूर्ण चर्चाएँ की गई हैं। ऐसे कथानकों में नारद, ध्रुव आदि के वार्तालाप के साथ राजा चित्रकेतु की कथा भी बड़ी शिक्षाप्रद और वास्तविक तथ्यों से ओत-प्रोत है।

चित्रकेतु एक राजा था, जिसे महर्षि अंगिरा की कृपा से एक संतान प्राप्त हुई थी। बच्चा अभी किशोर ही था कि उसकी मृत्यु हो गई। राजा पुत्र वियोग से बड़ा व्याकुल हुआ। अंत में ऋषिदेव उपस्थित हुए और उन्होंने दिवंगत आत्मा को बुलाकर शोकातुर राजा से वार्तालाप कराया। पिता ने पुत्र से लौटने के लिए कहा तो उसने जवाब दिया, ऐ जीव! मैं न तेरा पुत्र हूँ और न तू मेरा पिता है। हम सब जीव कर्मानुसार भ्रमण कर रहे हैं। तू अपनी आत्मा को पहचान। हे राजन्! इसीसे तू सांसारिक संतापों से छुटकारा पा सकता है। अपने पुत्र के इस उपदेश से राजा आश्वस्त हुआ और शेष जीवन

उसने आत्म-कल्याण की साधना में लगाया। राजा चित्रकेतु अंत में आत्म-ज्ञान प्राप्त कर जीवन मुक्त हो गया।

यह आत्मा अनेक योनियों में भ्रमण करती हुई मनुष्य जीवन में आती है। ऐसा संयोग उसे सदैव नहीं मिलता। शास्त्रीय अथवा विचार की भाषा में इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि जीवों की अपेक्षा मनुष्य को जो श्रेष्ठताएँ उपलब्ध हैं, वे किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही हैं, जो आत्म-ज्ञान या अपने आप को जानना ही हो सकता है। आत्म-ज्ञान ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है, जिससे वह जीवभाव से मुक्त होकर ईश्वरीय भाव में लीन हो जाता है।

हमारा जीवनलक्ष्य — आत्म-दर्शन

मनुष्य जीवन का भी अपना एक लक्ष्य है। खाने-कमाने और मौज-मजा करने तक ही उसका जीवन सीमित नहीं। सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक, राजनीतिक सीमा बंधनों तक ही उसका जीवन बँधा नहीं है। जन्म से मृत्यु तक की एक निश्चित अवधि, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान की परिस्थितियाँ यह सोचने को विवश करती हैं कि मनुष्य जिस दिशा में चल रहा है, यही उसकी दिशा नहीं है। उसकी सूक्ष्म बौद्धिक क्षमता यह बताती है कि मनुष्य कोई विशेष लक्ष्य लेकर इस धरती पर अवतरित हुआ है। विशाल अंतरिक्ष, गगनस्पर्शी पर्वत, सुदूर तक विस्तृत सागर, सूर्य-चंद्रमा, ग्रह-नक्षत्र सभी इंगित करते हैं कि इस जीवन से भी आगे कुछ है। अशांति, दुःख और क्षोभ का कारण यही है कि हमें आत्म-ज्ञान नहीं, अपने लक्ष्य का भान नहीं है। यह अस्थिरता, तब तक बनी रहती है, जब तक मनुष्य अपना लक्ष्य नहीं जानता, अपने मौलिक स्वरूप को नहीं पहचानता।

इस संसार में अनेकों प्रकार के जीव-जंतु, कीट-पतंगे, पशु-पक्षी और मनुष्येतर प्राणी विद्यमान हैं। कई शारीरिक शक्ति में बड़े हैं, कई सौंदर्य में। कितनों ने प्राणशक्ति के आधार पर अनेक प्राकृतिक घटनाओं का पूर्व आभास पा लेने में अजीब क्षमता पाई, तो कई

स्वच्छंद विचरण के क्षेत्र में आज के ज्ञान-युग से भी अधिक पटु हैं, किंतु एक साथ सारी विशेषताएँ किसी को भी उपलब्ध नहीं। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और अनेक आत्मिक संपदाएँ मनुष्य में ही दिखाई देती हैं। मानव जीवन की इस सुव्यवस्था को देखते हैं, तो यह लगता है कि यह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही हुआ है। एक ही स्थान पर अनेक शक्तियों का केंद्रीकरण निश्चय ही अर्थपूर्ण है।

मनुष्य को औरों की अपेक्षा अधिक बुद्धि, विद्या, बल और विवेक मिला है, यह बात तो समझ में आती है, किंतु इन शक्तियों का संपूर्ण उपयोग बाह्य जीवन तक ही सीमित रखने में उसने बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया। अपने ज्ञान-विज्ञान को शारीरिक सुखोपभोग के निमित्त लगा देने में उसने धोखा ही खाया है। दुःखों का कारण भी यही है कि हम अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। नाशवान शरीर और इंद्रियजन्य विषयों की पूर्ति के गोरख धंधे में ही अपना सारा समय बरबाद कर देते हैं और अंत समय सारी भौतिक संपदाएँ यहीं छोड़कर चल देते हैं। इस कटु सत्य को अनुभव सभी करते हैं किंतु अंतरंग-कक्षा में प्रवेश होने से दूर भागते हैं। कभी यह विचार तक नहीं करते कि इस विश्वव्यापी प्रक्रिया का कारण क्या है? हम क्या हैं और जीवन धारण करने का हमारा लक्ष्य क्या है? ढेर सारी संपदाएँ मिली हैं इसलिए कि इनका उपयोग अंतर्दर्शन के लिए किया जाए। अपने को भी नहीं पहचान पाएँ, तो इस शरीर का, बौद्धिक शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा?

'मैं' और 'मेरा शरीर' दो भिन्न वस्तुएँ हैं। एक कर्ता है, दूसरा कर्म। एक क्रियाशील है, दूसरा जड़। एक सवार है, दूसरा वाहन। मानव-जीवन तो लक्ष्यप्राप्ति के लिए शरीर आत्मा का वाहन मात्र है। दोनों की एकरूपता का कोई आधार समझ में नहीं आता। यदि ऐसा होता तो मृत्यु के उपरांत भी यह शरीर क्रियाशील रहा होता। खाने-पीने, उठने-बोलने, चलने-फिरने और जीवन के अनेक व्यवसाय वह उसी तरह संपन्न करता जैसे जीवित अवस्था में। तब

फिर उचित यह प्रतीत होता है कि अपने कर्तापन का ज्ञान प्राप्त करें। अपने वाहन को तरह-तरह के रंगीन लुभावने वस्त्राभूषणों से सजाते घूमें और आत्म-तत्त्व उपेक्षित पड़ा रहे, तो इसे कौन बुद्धिमत्ता की बात मानेगा? घोड़ा घास खाए और सवार को पानी भी न मिले तो फिर यात्रा का उद्देश्य कहाँ पूरा हुआ?

आत्मा की सिद्धियाँ अनंत हैं। स्वर्ग-मुक्ति और विराट के दर्शन का केंद्रबिंदु आत्मा है। वह अनंत सामर्थ्यों का स्वामी है। इन्हें प्राप्त कर मनुष्य, अणु से विभु, लघु से महान, बंधन-मुक्त बनता है, किंतु आत्मानुभूति किए बिना यह सब संभव नहीं। अपने नीचे की जमीन में ही असंख्यों मन सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात जमा हो और उसका ज्ञान न हो, तो उस बहुमूल्य खजाने एवं मिट्टी के ठीकरों में भला क्या अंतर रहा? अपनी तिजोरी में रखी हुई पिस्तौल दुश्मन को नहीं मार सकती। जिस शक्ति का हमें ज्ञान ही न हो उसको प्रयोग में कैसे लाया जा सकता है?

“आत्मदर्शन” भारतीय संस्कृति का प्राण है। यहाँ समय-समय पर जो भी महान पुरुष हुए हैं, उन्होंने आत्म-ज्ञान पर ही अधिक जोर दिया है। संपूर्ण वैदिक वाङ्मय इसी से ओत-प्रोत है। जीवन के प्रत्येक व्यवसाय से अंतर्दर्शन की बात अवश्य जोड़ दी गई है, ताकि मनुष्य भौतिक जीवन जीते हुए भी आत्म-तत्त्व से विस्मृत न रहे। अपने जीवनोद्देश्य को कभी भी न भूले। इसी पर सब मनीषियों ने देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप से बल दिया है। सभी महापुरुषों, ऋषियों, संतों और लोकनायकों ने मनुष्य को दुःख और विनाश की परिस्थितियों से ऊँचा उठाने के लिए आत्मिक ज्ञान पर ही अधिक बल दिया है। भारतीय जीवन में भौतिक संपदाओं की अवहेलना का भी यही अर्थ है। मानवीय चेतना अपने मूल स्वरूप को पहचानने की दिशा में सतत आरूढ़ रहे।

आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप अत्यंत शुद्ध, पवित्र, अलौकिक और दिव्य है। उसकी अंतिम अवस्था धर्माचरण और ईश्वर साक्षात्कार है। यह शरीर के माध्यम से ज्ञान और प्रयत्न करने से मिलती है।

शरीर को जब एक विशिष्ट उपकरण मानकर इंद्रियों की दासता से ऊपर उठते हैं, तो स्वयं ही आत्मानुभूति होने लगती है। जो आदमी इस सत्य को गहराई तक अपने हृदय में बिठा लेता है, वह नाशवान वस्तुओं के अनुचित मोह को त्यागकर आत्मिक पवित्रता की ओर अग्रसर होता है। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि अनात्म तत्त्वों से उसकी रुचि हटने लगती है। विचारों और व्यवहारों में पवित्रता उत्पन्न होती है। जितना वह आत्म-साक्षात्कार के समीप बढ़ता है, उसी अनुपात में दैवी गुणों का उसमें समावेश होता चलता है, फलस्वरूप सच्चे सुख, शांति और संतोष के परिणाम भी सामने आते रहते हैं।

आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े उपकरणों या अधिक-से-अधिक स्कूली शिक्षा की ही आवश्यकता नहीं। कोई भी व्यक्ति जो अपनी सामर्थ्यों या विशेषताओं की विवेचना कर सके वह आत्म-ज्ञानी हो सकता है। इसके लिए आत्म-निरीक्षण की आदत बनानी पड़ती है। यह कार्य ऐसा नहीं जो हर किसी से किया न जा सके। अपनी भूलों, त्रुटियों और आदत में प्रविष्ट बुराइयों को अपने में दृढ़तापूर्वक खोजना और उन्हें दूर हटाना हर किसी के लिए संभव है। सन्मार्ग पर चलते हुए रास्ते में जो अड़चनें, बाधाएँ और मुसीबतें आती हैं, उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करते रहने से अपनी समस्त चेतना का रुख आत्मा की ओर उन्मुख होने लगता है। जैसे बंदूक की गोली को शक्तिपूर्वक दूर तक पहुँचाने के लिए उसे छोटे-से-छोटे दायरे से गुजारा जाता है, वैसे ही अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को एक ही दिशा में लगा देने से उधर ही आशातीत परिणाम दिखाई देने लगते हैं। जब तक अपनी मानसिक चेष्टाएँ बहुमुखी होती हैं, तब तक विपरीत परिस्थितियों से टकराते हैं, किंतु जब एक ही दिशा में दृढ़तापूर्वक चल पड़ते हैं, तो ध्येय प्राप्ति की साधना भी सरल हो जाती है।

किसी विषय को जब तक मनुष्य भली-भाँति समझ नहीं लेता, तब तक उससे झिझकता रहता है। घने अंधकार में जाने से

सभी को भय लगता है, किंतु यदि उसी अंधकार में जाने के लिए हाथ में मशाल दे दी जाए, तो अज्ञानता का भय अपने आप दूर हो जाता है। आत्मिक ज्ञान के प्रति भय तथा उपेक्षा और उदासीनता का कारण यही होता है कि अपना जीवनलक्ष्य निर्धारित नहीं करते। अनंत शक्तियों का केंद्र होते हुए भी मनुष्य इधर से जितना उदासीन रहता है, उतना ही दुःख और अभाव उसे धेरे रहते हैं।

सांसारिक ज्ञान प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य रहा होता, तो इसके लिए बुद्धि की चैतन्यता, एकाग्रता एवं जागरूकता ही पर्याप्त थे, किंतु आत्म-ज्ञान का संबंध समस्त प्राणी मात्र में सहानुभूति करने से होता है। अपने क्रिया व्यापार को जब तक अपने आप तक ही सीमित रखते हैं, तब तक इस परमतत्त्व का ज्ञान पाना असंभव है। स्वार्थ की संकीर्ण प्रवृत्ति ही है जो मनुष्य को सत्य का आभास नहीं होने देती, किंतु जब परमार्थ बुद्धि का समावेश होता है, तो सारी ग्रन्थियाँ स्वयमेव खुलने लग पड़ती हैं। जिस प्रकार अस्वच्छ शीशे में सूर्य की किरणों का परावर्तन नहीं होता वैसे ही स्वार्थपूर्ण अंतःकरण बनाए रखने से आत्मानुभूति संभव नहीं। इसलिए अपने आप को दूसरों के हित एवं कल्याण के लिए विकसित होने दीजिए। दूसरों के दुःखों के दुःख-दरद जिस दिन से आपको अपने लगने लगें, उसी दिन से आपकी महानता भी विकसित होने लगेगी। सभी के साथ प्रेम, मैत्री, सहयोग, सहानुभूति का स्वभाव बनाने से आत्म-ज्ञान का प्रकाश परिवर्द्धित होने लगता है। गीताकार ने लिखा है—

नैव तस्य कृतेनाथो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

— श्रीमद्भगवद्गीता-३/१८

अर्थात् आत्मवादी पुरुष का लक्षण है—लोक-हितार्थ कर्म करना, क्योंकि संपूर्ण प्राणियों में स्वार्थ का कोई संबंध नहीं है। सभी विश्व-चेतना के ही अंग हैं, फिर किसी के प्रति परायेपन का भेदभाव क्यों करें? अपने ही सुखों को प्रधानता देने में जो क्षणिक

आनंद-अनुभव कर इसी में लगे रहते हैं। उनसे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वे आत्मोद्धार कर लेंगे, पर जिसे अपना मानव-जीवन सार्थक बनाना है, जिसने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लिया है, उसके लिए उचित है कि वह खुले मस्तिष्क से सभी में अपने आप को ही रमा हुआ देखें। ऐसी अवस्था में किसी को दुःख देने या उत्पीड़ित करने की भावना भला क्यों बनेगी?

आत्म-ज्ञान और आत्मानुभूति के मूल उद्देश्य को लेकर ही हम इस संसार में आए हैं। मानव-जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि वह अपने गुण, कर्म और स्वभाव में मानवोचित सदाचार का समावेश करे और लोकहित में ही अपना हित समझे। मनुष्य एक विषय है तो संसार उसकी व्याख्या। अपने आप को जानना है, तो संपूर्ण विश्व के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित करनी पड़ेगी। आत्मा विशाल है, वह एक सीमित क्षेत्र में बँधी नहीं रह सकती। संपूर्ण संसार ही उसका क्रीड़ा क्षेत्र है। अपनी चेतना को भी विश्वचेतना के साथ जोड़ देने से आत्म-ज्ञान का प्रकाश स्वतः प्रस्फुटित होने लगता है।

इस प्रकार जब मनुष्य सांसारिक तथा इंद्रियजन्य परतंत्रता से मुक्त होने लगता है, तो उसकी महानता विकसित होने लगती है। आत्मा की स्वतंत्रता परिलक्षित होने लगती है, आत्मबल का संचार होने लगता है। स्वभाव में पवित्रता और प्रफुल्लता का वातावरण फूट निकलता है। आत्मा की गौरवपूर्ण महत्ता प्राप्त कर मनुष्य का इहलौकिक और पारलौकिक उद्देश्य पूरा हो जाता है। अपने लिए भी यही आवश्यक है कि हम अपनी इस प्रसुप्त महानता को जगाएँ, इसके लिए आज से और अभी से लग जाएँ, ताकि अपने अवशेष जीवन का सच्चा सदुपयोग हो सके।

जीवनोद्देश्य से विमुख न हों

इस अनादि और अनंत काल के शाश्वत प्रवाह में न जाने वह कौन-सा अभागा क्षण था, जो मनुष्य को छूकर निकल गया,

फलस्वरूप मनुष्य ने भोग-भावना की उपासना को अपना जीवन-लक्ष्य निर्धारित कर लिया।

क्या मनुष्य का जीवनलक्ष्य भोग-वीथियों में भटकते रहना हो सकता है? किसी प्रकार भी तो यह विश्वास नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा रहा होता, तो मनुष्य का निर्माण भी उसी प्रकार का हुआ होता जिस प्रकार अन्य पशुओं का। न उसमें बुद्धि होती, न विवेक और न ही आध्यात्मिक चेतना का विकास। संसार का यह सर्वगुणसंपन्न प्राणी मनुष्य भी यदि जीव-जंतुओं की भाँति ही भोजन, आवास, निद्रा और मैथुन में रत रहकर ही सारा जीवन बिताता और मरकर चला जाता, तो फिर उसमें अंतर ही क्या रह जाता है?

प्राणियों के बीच एक-दूसरे से उनकी विशेषताओं की भिन्नताओं के पीछे निश्चित ही कुछ अर्थ और कुछ उद्देश्य निहित रहता है। परमात्मा की यह विशाल, व्यापक, नियमित तथा व्यवस्थित सृष्टि, किसी बाजीगर का निरुद्देश्य तमाशा भर नहीं है और न यह बालू से खेलते अबोध बच्चों की क्रीड़ा है कि वे मिट्टी से विविध प्रकार के आकार-प्रकार बनाते और यों ही कुतूहलवश बिगाड़ते रहते हैं। गाय-बैलों के सिर-सींग, शेर के पंजे, हाथी की सूँड़। वराह के वीर और पक्षियों के डैने होना, अपने पीछे एक सार्थक मंतव्य रखते हैं। यह यों ही निरर्थक की उपज एवं विभिन्नता नहीं है। यह बात दूसरी है कि हमारी मोटी बुद्धि इसके सूक्ष्म उद्देश्य को पूरी तरह समझ सकने में समर्थ न हो सके।

व्यवस्थित रूप से सोचने की क्षमता, परिष्कृत वाणी, बोलने और समझाने का गुण, सामाजिकता, पारस्परिकता, सहयोग, सौंदर्य, साहित्य, सहानुभूति, चिकित्सा, वाहन, मनोरंजन, न्याय, गृह, वस्त्र एवं आजीविका की सुविधा आदि की जो विशेषताएँ मनुष्य को मिलीं और अन्य जीव-जंतुओं को नहीं मिली—परमात्मा के इस अनुग्रहाधिक्य का यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि मनुष्य अपना जीवन इन विशेषताओं एवं सुविधाओं, इन पुरस्कारों एवं

उपहारों को यों ही मिट्टी में मिलाकर अन्य पशुओं की तरह ही अपना जीवन बिताए और मर जाए। अवश्य ही मनुष्यों का जीवन उद्देश्य अन्य जीव-जंतुओं से भिन्न होना निर्धारित है।

मनुष्य जीवन-पद्धति की यह भिन्नता एक सोददेश्य जिंदगी, एक ऊँची और परिष्कृत जिंदगी के सिवाय और कुछ नहीं हो सकती। मानव जीवन की परिस्थितियों को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वह शरीर की संकीर्ण परिधि से बाहर निकलकर व्यापक विभु की ओर बढ़े, नीचे स्तर से उठकर ऊपर अनंत की ओर अभियान करे। यदि वह सर्वगुणसंपन्न इस मनुष्य जीवन जैसे अलभ्य अवसर को पाकर भी अपनी आत्मा की संकीर्णता के कलुष से मुक्त करने का प्रयत्न न करे, तो यही मानना पड़ेगा कि हमने इस पावन प्रसाद का न तो समुचित मूल्यांकन ही किया और न परमात्मा की कृपा का समादर। इस मनुष्य शरीर को पशुओं जैसा यापन कर उसी श्रेणी का सिद्ध करने का अनुचित अपराध किया। आत्म-कल्याण, आत्म-मुक्ति एवं आत्म विस्तार की साधना में निरत रहकर न केवल यही एक अलभ्य अवसर खो दिया, बरन आगे के लिए भी अपनी पात्रता असिद्ध कर दी और पुनः लाखों-करोड़ों वर्षों के लिए चौरासी लाख योनियों के कारावास की भूमिका तैयार कर ली।

शारीरिक वासनाओं की सँकरी तथा असाध्य वीथियों से निकलकर यदि कुछ देर के लिए भी मन को मुक्त कर संसार के विस्तार तथा व्यापकता पर दृष्टिपात किया जाए, तो कोई कारण नहीं कि यह अनादि से लेकर अनंत तक फैला हुआ नीलाकाश इसमें अवस्थित असंख्यों प्रकाशमान ग्रह, नक्षत्र, चांद एवं सूरज अपनी दिव्यता से हमारे उन्नत एवं व्यापक अभियान में सहायक न हों। कोई कारण नहीं कि इनका दर्शन, इनका विचार कुछ देर के लिए भी हमारे हृदय में व्यापकता की अनुभूति उद्बुद्ध न करे और हम इनके बीच अपने अंदर इन्हीं जैसी महानता तथा व्यापकता को अनुभव न करने लगें। किंतु कहाँ हम तो भोगों के रोगों से ग्रस्त अपने चारों ओर

वासनाओं तथा एषणाओं की कारा निर्मित किए अपने को काल-कोठरी का बंदी बनाए पड़े हैं। हमें अवकाश ही कब मिलता है कि हम संकीर्णताओं से निकलकर इस अपार्थिव वैभव, इस व्यापक विभूति से तादात्म्य का प्रयास करें। ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध और मोह आदि आत्म-विरोधियों का संग कर हम निविड़ अंधकार में भटककर अपने इस महान उद्देश्य की ओर से उदासीन होकर मनुष्य से पशु बने पड़े हैं और एक क्षण को भी यह सोचना नहीं चाहते कि अवसर निकला जा रहा है और हम अंत में पश्चात्ताप की अग्नि में जलने के लिए चूके जा रहे हैं।

नित्यप्रति सूर्योदय के समय से एक नया दिन आरंभ होता है और सूर्य अस्त होने तक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार नित्य ही आयु से एक मूल्यवान दिन कम हो जाता है। हम कभी नहीं सोचते कि हमने जिस दिन इस धरती पर जन्म लिया, उसी दिन से जीवन का ह्लास आरंभ हो गया है। बड़ी तेजी से क्षण-अनुक्षण, श्वास एवं प्रश्वास के साथ अंत की ओर बढ़ते जा रहे हैं। उस अंत की ओर जिसकी स्थिति अथवा अवस्था का कोई आभास हमारे पास नहीं है। किसी बड़े उद्देश्य के लिए मिला हुआ यह छोटा सा अवसर, यह गिना-चुना समय यों ही व्यर्थ में नष्ट हुआ जा रहा है और हम उसके लिए कुछ भी तो नहीं कर रहे हैं।

हम नित्य ही जन्म-मृत्यु, जरता-क्षरता, रोग-शोक, आपत्ति, विनाश, काल एवं अकाल मृत्यु के विचार प्रेरक तथा जगा देने वाले दृश्य देखते-सुनते ही रहते हैं, किंतु हमारे कान पर जूँ तक नहीं रेंगती है। विषय-वासनाओं, कामनाओं, एषणाओं, भोग तथा लोलुपता ने हमें इस सीमा तक मोहग्रस्त बना दिया है कि हम विचार, विवेक और बुद्धि के रूप में अंधे ही हो गए हैं। सांसारिकता के प्रमाद में इस सीमा तक विस्मृत हो गए हैं, ढूब गए हैं कि एकआध घड़ी एकांत में बैठकर विचार कर सकें कि हमको यह

विचित्रतापूर्ण मानव शरीर क्यों मिला? इसका उद्देश्य क्या है? हम कौन हैं? कहाँ से आए हैं और कहाँ जा रहे हैं? हमें क्या करना चाहिए और हम क्या कर रहे हैं? इस प्रकार की कल्याणकारी भावना, जिज्ञासा अथवा उत्सुकता की चेतना से हम सर्वथा अपरिचित ही हो गए हैं।

एक तिनके की तरह हम चेतनाहीन होकर समय के प्रवाह, विकृतियों के वेग में, संसार की अबूझ परंपरा—जन्म लेना, जीना और मर जाना, के साथ बहे चले जा रहे हैं। इंद्रिय भोग, पदार्थ पूजा, अधिकार, पुत्र-कलत्र, धन-धान्य आदि दायित्व एवं परतंत्रताजन्य वस्तुओं को लक्ष्य बनाकर दिन-रात इन्हीं में मरते-खपते चले जा रहे हैं। जब अंतकाल आता, चेतना जागती और बुद्धि प्रश्न करती है, तब हम अपनी भूल समझते और छटपटा उठते हैं, किंतु तब तक जीवन की हाट उठने लगती है और हम उस सबको ज्यों-का-त्यों यथास्थान छोड़कर खाली हाथ मलते हुए किसी अनजान दिशा की ओर चल देते हैं। वह कुछ भी न तो हमारे साथ जाता है और न काम ही आता है, जिसका हमने सुर-दुर्लभ मानव जीवन को नष्ट करके बड़े उत्साह से संचय किया था। विशाल वैभव, अपार धन-धान्य, पुत्र-कलत्रादिक संचय तथा संसार की सारी परिस्थितियाँ हमारे सामने बनी रहती हैं। जिनको हम अपना कहते और जिनके लिए प्राण देते रहते हैं, कोई भी काम नहीं आते, हम अपनी मोहमयी भूल के पश्चात्ताप में जलते हुए परवशता के परां से बँधे उड़ ही जाते हैं। उस समय की वह व्याकुलता, वह व्यग्रता और शोक-संताप या तो वह ही समझ सकता है, जो भुक्तभोगी रहा है अथवा वह समझेगा जो आज उसी भूल का प्रतिपादन करता हुआ सोचने-समझने की आवश्यकता नहीं समझता।

जीवन के प्रति विश्वास एवं आस्था रखना अच्छी बात है। तथापि जिंदगी कितनी ही लंबी और विश्वासपूर्ण क्यों न हो, जीवनलक्ष्य की महानता को देखते और संसार की नश्वरता को

समझते वह सदैव छोटी तथा अविश्वस्त ही है। इसका एक-एक क्षण मूल्यवान है। हर बीते हुए क्षण की क्षति पूरी नहीं की जा सकती, किसी आए हुए क्षण को व्यर्थ नहीं किया जा सकता। लक्ष्य की दिशा में ही उपयुक्त किया हुआ क्षण हमारा सार्थक तथा सहयोगी हो सकता है, अन्यथा जीवन के पचास-सौ साल क्या हजार और लाख-लाख वर्ष भी निरर्थक एवं निरूपयोगी ही सिद्ध होते हैं।

अज्ञान के कारण मनुष्य भौतिक उपलब्धियों को ही उन्नति और सफलता का प्रतीक मान लेता है, किंतु मनुष्य शरीर, बल, बुद्धि, धन, वैभव, यश, ऐश्वर्य अथवा पद-प्रतिष्ठा के क्षेत्र में क्यों न हिमालय की तरह ऊँचा और सागर की तरह गहरा हो जाए, किंतु जब तक उसमें आत्म-संपदा का अभाव है, आध्यात्मिक चेतना की आवश्यकता है, तब तक वह निर्धन तथा निम्नकोटि का ही माना जाएगा। आत्मोन्नति एवं आध्यात्मिक उपलब्धि ही वह वास्तविक उन्नति एवं विकास है, जिसे प्राप्त कर यह मानव जीवन धन्य तथा सार्थक होता है। भौतिक विभूतियों की चमक मरुस्थल की उस मरीचिका से अधिक कुछ भी तो नहीं है, जो कि आकर्षक तो बहुत होती है किंतु न तो आत्मा की प्यास बुझा सकती है और न हृदय को संतोष दे सकती है।

यह बात सोचना-समझना भूल होगी कि मानव जीवन में भौतिक पदार्थों का कोई मूल्य या महत्व नहीं है। मनुष्य का शरीर पार्थिव है, उसे चलाने तथा बनाए रखने के लिए भौतिक पदार्थ की नितांत आवश्यकता है। भोजन, वस्त्र तथा निवासादिक आवश्यकताओं की अपूर्ति में जीवन चलना ही कठिन हो जाएगा। किंतु इनका महत्व केवल उस सीमा तक ही है कि ये मानव जीवन के उद्देश्य की पूरक मात्र ही बने रहें, स्वतः लक्ष्य न बन जाएँ। शरीर-रक्षा और अपने जीवन की असुविधा दूर करने के लिए आवश्यक सुविधाओं की उपार्जन एवं इनकी प्राप्ति में आवश्यक समय तथा श्रम देने के

उपरांत जो शक्तियाँ और जो अवसर शेष बचे, उन्हें परम लक्ष्य की ओर जाने में ही लगाना बुद्धिमानी है। भौतिकता के साथ अपना समग्र जीवन बेच देने का अर्थ यही होगा कि हम अपने उद्देश्य की दिशा से भटककर गलत रास्ते पर चल निकले हैं। जो साधन था, वह हमारा साध्य बन गया है। ऐसी दशा में यथाशीघ्र अपना सुधार कर लेना ही कल्याणकारी माना जाएगा।

जिस प्रकार कोई चित्रकार अपनी रचना के चरमोत्कर्ष लक्ष्य तक तब ही पहुँच पाता है, जब वह अपने अभिलेखन में कला एवं सौंदर्य का समुचित समन्वय कर लेता है। कला-विहीन सुंदर रचना अथवा कलापूर्ण असुंदर रचना दोनों ही अपने में अपूर्ण एवं अवांछनीय होने से कलाकार को अपने चरमोत्कर्ष के लक्ष्य तक नहीं पहुँचा पाती। उसी प्रकार भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का समुचित समन्वय ही मनुष्य को उसके आत्मोत्कर्ष के लक्ष्य तक ले जा सकता है। यदि कोई भौतिक आवश्यकताओं की सर्वथा उपेक्षा कर आध्यात्मिक चिंतन अथवा साधना में लगा रहे, तो आवश्यकताओं की पीड़ा से उसका चित्त अस्थिर रहेगा और शरीर जवाब दे देगा, जिसका फल अनानुभूति के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता। इस प्रकार की आध्यात्मिक साधना उसके लिए मृत्यु की तरह कष्टदायक बन जाएगी। इसी प्रकार यदि आध्यात्मिक साधना से विरत होकर केवल भौतिक भोगों की ही उपासना की जाती रहे, तो भी मानवीय लक्ष्य दूर से दूरतर होता चला जाएगा। दोनों का समुचित समन्वय ही उद्देश्य-पूर्ति का कारण बन सकता है, जिसका अनुपात कम-से-कम पच्चीस और पचहत्तर का ही होना चाहिए। उससे कम अनुपात में लक्ष्यप्राप्ति के लिए अनेक जन्म-जन्मांतरों तक प्रयत्न एवं प्रतीक्षा करनी होगी।

येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी समस्त संपत्ति को दोनों पत्नियों में बराबर बाँटकर गृह त्याग के लिए उद्यत हुए। मैत्रेयी को संतोष नहीं हुआ और आखिर वह पूछ ही बैठी—“भगवन्! क्या मैं इस सबको

लेकर जीवन-मुक्ति का लाभ प्राप्त कर सकूँगी ?" "क्या मैं मर जाऊँगी या आत्मतोष प्राप्त कर सकूँगी ?" महर्षि ने अपने चिंतन का क्रम तोड़ते हुए कहा—“नहीं, ऐसा नहीं हो सकेगा। साधन-सुविधा संपन्न सुखी जीवन जैसा अब तक तुम्हारा रहा, इसी तरह आगे भी चलता रहेगा, अन्य सांसारिक लोगों की तरह ही तुम भी अपना जीवन सुख-सुविधा के साथ बिता सकोगी।”

मैत्रेयी का असंतोष दूर नहीं हुआ और वे बोलीं—“ये नाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्।” (बृहदारण्यकोपनिषद् ४,५,६)“जिससे मुझे अमृतत्व प्राप्त न हो उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? देव ! मुझे यह सुख-सुविधा संपन्न सांसारिक जीवन नहीं चाहिए।”

“तो फिर तुम्हें क्या चाहिए, मैत्रेयी ?” महर्षि ने पूछा। मैत्रेयी की आँखों से अश्रुधारा बह निकली। उसका हृदय संपूर्ण भाव से उमड़ पड़ा उस दिन। मैत्रेयी ने महर्षि के चरणों में सिर झुकाते हुए कहा—

“असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय। आविरावीर्मा एधि रुद्र यत्ते दक्षिण मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।”

“हे प्रभो ! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाओ, अंधकार से प्रकाश और मृत्यु से अमृत्यु की ओर गति प्रदान करो। देव ! हे प्रकाश ! आप चिर प्रकाश बनकर मेरे जीवन में प्रकाशित हो उठें। रुद्र बनकर मेरे समस्त पापरूपी अंधकार का नाश कर दें। अपने प्रेम स्वरूप आनंदमय दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करें, जिसकी छाया में, मैं चिरकाल तक परित्राण प्राप्त कर सकूँ।”

मैत्रेयी ने महर्षि के सान्निध्य में सुख-समृद्धि और संपन्नता का जीवन बिताया था, किंतु उसके अंतर का यह प्रश्न अभी तक अधूरा था। उसका समाधान अभी तक नहीं हो पाया था।

हम जीवन भर नाना संपत्ति, ऐश्वर्य, वैभव एकत्र करते हैं। आश्रम, धन, नाना पदार्थ, बहुमूल्य सामग्री जुटाते हैं और अंतर में स्थित मैत्रेयी को सौंपते हुए कहते हैं—“लो ! इससे तुम्हें प्रसन्नता

होगी, आनंद मिलेगा।" अनेकानेक सामग्री हम जुटाते हैं, किंतु अंतर में बैठी हुई मैत्रेयी कहती ही रहती है—“येनाहं नाभृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्।” इन सब सामग्रियों में जीवन के शाश्वत प्रश्न का समाधान नहीं मिलता और आत्म-चेतना निरंतर छटपटाती रहती है। उस महत्त्वपूर्ण तथ्य की प्राप्ति के लिए जो उसे सत्य, ज्योतिर्मय अमृतत्व की प्राप्ति करा सके, सब ओर से उसे परित्राण देकर आनंदमय बना सके।

मैत्रेयी चाहती थी कि उस परमतत्त्व का साक्षात्कार, एकानुभूति, नित्य दर्शन, जो सत्य, ज्योतिर्मय स्वरूप है, जो उसके जीवन का चिर प्रकाश बने। रुद्र बनकर उसके समस्त पाप-तापों को नष्ट कर दे और उसे परित्राण देकर निर्भय बना दे।

मैत्रेयी ने अपने अनुभव की कसौटी पर जान लिया था, संसार और इसके सकल पदार्थ, संबंध, नाते, रिश्ते मरणशील हैं, इनका पर्यवसान अंधकार और असत्य में ही होता है। दैहिक, दैविक, भौतिक पाप-तापों की पीड़ा जीव को सदा ही अशांत-भयभीत बनाए रखती है।

मनुष्य नाना पदार्थ, उपकरणादि संग्रह करता है। धन-संपत्ति जुटाता है। बड़े-बड़े महल बनाता, देह को नाना भाँति सजाता-सँवारता है। रात-दिन इन्हीं को आधार बनाकर जुटे रहने से इनके प्रति मनुष्य में एक तरह की आसक्ति एवं ममता उत्पन्न हो जाती है। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि मनुष्य इन्हीं उपकरणों, सामग्री, संबंधों को सब कुछ मान इन्हीं का अवलंबन लेकर चलने लगता है। किंतु संसार के नियम के अनुसार ये मिट्टी के घरोंदे क्षण-क्षण में गिरते-पड़ते रहते हैं। परिवर्तित होते रहते हैं। संसार और इसके पदार्थ बनते-बिगड़ते रहते हैं। कोई भी तो स्थिर नहीं रहता। मनुष्य का शरीर ही वृक्ष के पत्ते की तरह एक दिन झड़ जाता है। वह भी स्थिर नहीं रहता। जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब ही तो असत्य है, मरण-धर्मा है, अंधकारमय है।

मनुष्य इनका अवलंबन लेकर क्षण-क्षण इनके वियोग, रूपांतरण-परिवर्तन के साथ-साथ ही मृत्यु का अनुभव करता है। जिसे सत्य मान लिया गया था, वे तो स्वप्न की तरह असत्य सिद्ध होते हैं। कृत्रिम प्रकाश के बुझ जाने पर अंधकार के सिवाय कुछ भी नहीं रहता। इससे क्षण-क्षण मृत्यु के असत्य और अंधकार में ही भटकता रहता है। भय, आशंका, व्लेश, पाप, ताप उसे क्षण भर भी तो स्थिर नहीं रहने देते। आवर्तनशील श्रम चलता ही रहता है और इसका कोई अंत ही नहीं होता।

इसीलिए मैत्रेयी को इन सब वस्तु, पदार्थ, संपत्ति, समृद्धि से परे किसी ऐसी वस्तु की अभिलाषा थी, जो इस तरह के मरणधर्म, प्रत्यावर्तन, स्वप्नवत असत्यता, परिणाम में अंधकार से सर्वथा मुक्त हो। जिसे प्राप्त करने के बाद फिर छोड़ने या बदलने का कोई प्रश्न ही उपस्थित न हो। जो मृत्यु से अतीत, सत्य, ज्योतिर्मय, दिव्यरूप हो। ऐसा अमृतत्व चाहती थी मैत्रेयी।

लेकिन हम शक्ति और युक्ति संसार के पदार्थों में सत्य ढूँढ़ते हैं, नाप-जोख करते हैं। नाना साज-सामान एकत्र करते हैं और अंतर में विराजमान मैत्रेयी से कहते हैं—“लो देवि! इन्हें ग्रहण करो और सुखपूर्ण जीवन बिताओ।” किंतु वह हर बार अपना असंतोष प्रकट करते हुए पूछती है, क्या इससे मुझे अमृतत्व की प्राप्ति हो सकेगी?

“नहीं?” तो फिर जो मैं चाहती हूँ, वह तो यह नहीं है। “येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्” (बृह० ४.५.४) जिससे मुझे अमृतस्वरूप की उपलब्धि न हो, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? और यह नित्य-निरंतर ही अश्रुपूरित नेत्रों और व्याकुल हृदय से प्रार्थना करती है—

“असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतंगमय (बृह० १.३.२८)। आविराकीर्मा एधि
(ऐतरेयोपनिषद् शांतिपाठ) रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि
नित्यम्।” (श्वेताश्वतर० ४.२१)

“हे चिरंतन सत्य ! मेरे अंतर और बाह्य सर्वत्र ही विराजमान सत्य ! मुझे असत्य की सीमा से निकालकर अपने में मिला लो । जग के असत्य परदों को हटाकर अपने सत्य स्वरूप भवन में ले चलो, जहाँ “आप हैं ।” आपके सिवाय कुछ भी न हो ।”

“ज्योतिषां यद् ज्योतिः” सर्व लोकों में ज्योतियों की भी पर ज्योति । कोटि-कोटि सूर्य सम आप की परम ज्योति व्याप्त है । हे ज्योतिर्मय ! अपने पावन स्पर्श से मुझे भी ज्योतिर्मय बना दें, जिससे अंधकार के समस्त परिवेष्टनों से मुक्त होकर मैं भी ज्योतिर्मय बनूँ ।”

“हे अमृत रस ! परमानंद के धाम ! सर्वत्र आप ही अजर-अमर-अविनाशी बनकर व्याप्त हैं । यह जगत् आप में ही धारण, पोषण, विनाश प्राप्त करता है, किंतु आप सदा-सदा गंभीर, स्तब्ध, एकरस बने रहते हैं । आपका कोई रूप, सीमा, आयु नहीं । अपने इस अमृत स्वरूप में मिलाकर मुझे भी अमर्त्य बनाएँ ।”

“हे प्रकाश ! मुझे अपने प्रकाश से जगमग-जगमग कर दो । अपनेपन, अहंकार, राग, आसक्ति के समस्त अंधकार का उच्छेद करके पूर्णरूपेण प्रकाशमय कर दो ।”

“हे रुद्र ! अपने प्रचंड ताप से मेरे समस्त पापों को भस्मीभूत कर आदिपाप हों उन्हें अपने रुद्र ताप से नष्ट कर दो, तब आपके आलोक प्रकाश की निर्विकारी सत्ता ही मुझमें शेष रहेगी । हे प्रभो ! आप अपने प्रसन्न, मधुर, आनंदमय दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करो । हे देव ! तब मैं आपका ही निवास बनकर सर्व ओर से परित्राण पा सकूँगी ।”

अंतर में विराजमान मैत्रेयी रूपी अंतरात्मा की इस प्रार्थना को हम एकाग्रता के साथ सुनें । उसके स्वरों में स्वर मिलाकर गाएँ । प्रबल जिज्ञासा, उत्कृष्ट इच्छा, अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ ही हमारी यह प्रार्थना किसी तरह की सौदेबाजी, लेन-देन या सँजोकर रखने की बात न हो । संसार के बीच में विचरण करते हुए हम उसी को ग्रहण करें, जो हमारी आत्मा की चिर इच्छा को पूर्ण करे । उस सत्य अमृत-ज्योति की प्राप्ति कराए । जो हमें अमर्त्य प्रदान न करे उसे छोड़ते जाएँ ।

“येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्।” (बृह० ४.५.४)

यह हमारा जीवन मंत्र बन जाए। □

शरीर का ही नहीं, आत्मा का भी ध्यान रखें

इस बात से जरा भी इनकार नहीं किया जा सकता कि मानव जीवन में शरीर का महत्व कम नहीं है। शरीर की सहायता से ही संसार-यात्रा संभव होती है। शरीर द्वारा ही हम उपार्जन करते हैं और उसी के द्वारा सारी क्रियाएँ संपन्न करते हैं। यदि मनुष्य को शरीर प्राप्त न हो, तो वह तत्त्व रूप से कुछ भी करने में समर्थ न हो।

यदि एक बार मानव शरीर के इस महत्व को गौण भी मान लिया जाए, तब भी शरीर का यह महत्व तो प्रमुख है ही कि आत्मा का निवास उसी में होता है। उसे पाने के लिए किए जाने वाले सब प्रयत्न उसी के द्वारा संपादित होते हैं। सारे आध्यात्मिक कर्म जो आत्मा को पाने, उसे विकसित करने और बंधन से मुक्त करने के लिए अपेक्षित होते हैं, शरीर की सहायता से ही संपन्न होते हैं। अतः शरीर का अपरिहार्य महत्व है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

शरीर का महत्व बहुत है। तथापि, जब इसको आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया जाता है, तब यही शरीर जो संसार बंधन से मुक्त होने में हमारी एक मित्र की तरह सहायता करता है, हमारा शत्रु बन जाता है। अधिकार से अधिक शरीर की परवाह करने और उसकी इंद्रियों की सेवा करते रहने से, शरीर और उसके विषयों के सिवाय और कुछ भी याद न रखने से वह हमें हर ओर से विभोर बनाकर अपना दास बना लेता है और दिन-रात अपनी ही सेवा में तत्पर रखने के लिए दबाव में आ जाने वाला व्यक्ति कमाने-खाने और विषयों को भोगने के सिवाय इससे आगे की कोई बात सोच ही नहीं पाता। उसका सारा ध्यान शरीर और उसकी आवश्यकताओं तक ही केंद्रित हो जाता है। वह शरीर और इंद्रियों की दासता में बँधकर अपनी सारी शक्ति, जिसका उपयोग महत्तर कार्यों में किया जा सकता है, शरीर की सेवा में समाप्त कर देता है। इस प्रकार

उसका जीवन व्यर्थ ही चला जाता है और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसके हृदय में एक पश्चात्ताप रह जाता है, जिसके लिए यह बहुमूल्य मानव जीवन प्राप्त हुआ है। इसलिए मनुष्य को इस विषय में पूरी तरह से सावधान रहने की आवश्यकता है कि शरीर का कितना महत्व है और अपनी सेवा पाने का उसे कितना अधिकार है?

शरीर की सेवा तक सीमित हो जाने की भूल मनुष्य से प्रायः तब होती है, जब वह शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है। सत्य बात तो यह है कि मनुष्य शरीर नहीं, आत्मा है। शरीर तो साधन मात्र है, साध्य केवल आत्मा ही है, इसलिए प्रधान महत्व शरीर को नहीं आत्मा को ही देना चाहिए। आत्मा स्वामी है और शरीर सेवक। इस शरीर को ही आत्मा की सेवा में नियोजित करना चाहिए, न कि आत्मा को शरीर के अधीन कर देना चाहिए। जो इस नियम एवं अनुशासन का उल्लंघन करते हैं, वे आत्मा की हित-हानि करने वाले भयानक भूल करते हैं, जो निश्चित रूप से शोक, खेद और पश्चात्ताप का विषय है।

शारीरिक स्वार्थ का महत्व है लेकिन एक सीमा तक। उसी सीमा तक जहाँ तक वह स्वस्थ, सशक्त और सक्षम बना रहे। वह अशक्यता तथा अल्पायु से बचा रहे। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपार्जन करना है और सुख-सुविधा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था भी। किंतु सच्चा स्वार्थ आत्मा का ही है। उसी की पूर्ति और उसी का हित-साधन करने को प्रधानता दी जानी चाहिए क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य यही है और उसी के लिए यह अनुग्रह भी किया गया है।

आवश्यकता से अधिक शरीर की सेवा में लगा रहने से शरीर पुष्ट हो जाता है। उसकी जड़ता प्रबल हो जाती है, आवश्यकताएँ वितृष्णा के स्तर पर पहुँच जाती हैं और तब मनुष्य मोह-लोभ-मद-मत्सर आदि ऐसे विकारों से ग्रसित हो जाता है, जो स्पष्टः आत्मा

के शत्रु माने गए हैं। यह विकार अपना अस्तित्व पाकर मानव जीवन को पतन की ओर ही प्रेरित करते हैं, उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही है। मनुष्य को पतन की ओर ले जाना विकारों का सहज धर्म है, इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। दोषी तो वास्तव में वह मनुष्य है, जो इनसे अपनी रक्षा का प्रबंध नहीं करता। बिच्छू का धर्म है—डंक मारना। यदि वह किसी के डंक मारता है, तो इसके लिए बिच्छू को दोष नहीं दिया जा सकता। दोष तो उस व्यक्ति का ही होगा, जिसने उस कुटिल कीट को कष्ट पहुँचाने का अवसर अपने प्रमाद के कारण दिया। एकमात्र शरीर की सेवा में निरत रहने से उक्त विकार जन्मेंगे, पनपेंगे और अपना अस्तित्व पाकर मनुष्य को धर्मतः पतन की ओर खींचेंगे। अस्तु, अपनी रक्षा के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह प्रधानता शरीर को नहीं आत्मा को दे और उसी के हित-साधन में निरत होकर उसी के कल्याण संपादन का प्रयत्न करे।

शरीर को अपेक्षित अधिकार देकर जो बुद्धिमान व्यक्ति शेष समय तथा रुचियाँ, आत्मा के स्वार्थ एवं उसकी सेवा करने में लगाते हैं, वे लोक में सुख और परलोक में श्रेय के अधिकारी बनते हैं। शरीर की सेवा जहाँ मनुष्य को पतन के गर्त में गिराकर रोग-शोक, संताप, पश्चात्ताप आदि की यातना दिलाकर भव-पाशों में लपेटती जाती है, वहाँ आत्मा की सेवा में मनुष्य अलौकिक सुख, हर्ष-उल्लास, आनंद आदि के साथ मोक्ष एवं मुक्ति का पुरस्कार पाता है। अवश्य ही शरीर की उपेक्षा मत कीजिए। कमाइए, खाइए, गृहस्थी बसाइए, सुख और संपत्ति के अधिकारी बनिए, लेकिन उसमें इस सीमा तक न ढूब जाइए कि इसके सिवाय और कुछ सूझ ही न पड़े। शरीर और संसार में उतना ही समय, श्रम और मनोयोग लगाना चाहिए, जितना आवश्यक है और जिससे जीवन की गाड़ी सुविधापूर्वक चलती रहे। शेष का सारा समय, श्रम तथा मनोयोग आत्मा का हित-साधन करने में लगाना चाहिए, जिससे स्वार्थ के साथ परमार्थ और लोक के साथ परलोक भी बनता चले। इसी में जीवन की सार्थकता है।

आत्मिक कल्याण आवश्यक होने के साथ-साथ थोड़ा कठिन भी है। कठिन इसलिए कि मनुष्य प्रायः जन्म-जन्म के संस्कार अपने साथ लाता है। वे संस्कार प्रायः भौतिक अथवा शारीरिक ही होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब मनुष्य का देहाभिमान नष्ट हो जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है। उसे शरीर धारण करने की लाचारी नहीं रहती। चूँकि सभी मनुष्यों की अभिव्यक्ति शरीर में हुई, इसलिए यह सिद्ध है कि उसमें अभी शारीरिक संस्कार बने हुए हैं। पूर्व संस्कारों पर विजय पाकर इन्हें आधुनिक रूप में मोड़ लेना, या यों कह लिया जाए कि शारीरिक संस्कारों का आत्मिक संस्कारों से स्थानापन कर लेना सहज नहीं होता। संस्कार बड़े प्रबल व शक्तिशाली होते हैं। इन दैहिक संस्कारों को बदलने का सरल-सा उपाय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक कार्यों और शारीरिक आवश्यकताओं की चिंता की जाती है, उसी प्रकार आत्म-कल्याण की चिंता की जाए। जिस प्रकार सांसारिक सफलताओं के लिए निर्धारित एवं सुनियोजित कार्यक्रम बनाकर प्रयत्न तथा पुरुषार्थ किया जाता है, उसी प्रकार मनोयोगपूर्वक आध्यात्मिक कार्यक्रम बनाए और प्रयत्नपूर्वक पूरे किए जाते रहें। इस प्रकार यदि मनुष्य अपने दृष्टिकोण के साथ-साथ पुरुषार्थ की धारा बदल डालें, तो निश्चय ही उसके संस्कार परिवर्तित हो जाएँगे और वह शरीर की ओर से मुड़कर आत्मा की ओर चल पड़ेगा।

संस्कार बदलने का प्रयत्न करने के साथ-साथ यह भी देखते चलना आवश्यक है कि संस्कारों में अपेक्षित परिवर्तन घटित हो भी रहा है या नहीं। इसकी पहचान यह है कि जब आप देखें कि आत्म-कल्याण के कार्यक्रमों की सफलता के लिए वैसी ही चिंता रहती है, जैसी कि घर-गृहस्थी के कार्यों और आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने की, तब समझ लें कि संस्कारों में परिवर्तन प्रारंभ हो गया है। यदि भौतिक सफलता की चिंता की तरह आध्यात्मिक सफलता की चिंता नहीं होती, तो समझ लेना चाहिए कि उस दिशा

में उचित प्रगति नहीं हो रही है। आप जो कुछ भी आध्यात्मिक प्रयत्न कर रहे हैं, वह सब यों ही एक बेगार अथवा मनोरंजन के लिए कर रहे हैं। उसमें आपका पूरा-पूरा मानसिक योग नहीं है और आपने उत्तरदायित्व के रूप में उक्त प्रयत्न का मूल्यांकन नहीं किया है।

संस्कारों में परिवर्तन लाने के लिए इस प्रकार के हलके-फुलके दिखाऊ प्रयत्न करने से काम न चलेगा, इस कर्तव्य को जीवनलक्ष्य के उत्तरदायित्व की भावना से करना होगा। बहुत से लोग आवेश में आकर जोश-खरोश के साथ संस्कार बदल डालने में सहसा जुट पड़ते हैं। इस प्रकार का असात्त्विक प्रयत्न भी वांछित सफलता संपादित करने में कृतकृत्य न होगा। ज्वार की तरह उठा हुआ कोई भी जोश कुछ ही दिनों में ठंडा पड़ जाता है। संस्कारों में वांछित परिवर्तन लाने के लिए सात्त्विकी निष्ठा के साथ आध्यात्मिक कार्यक्रम अपनाकर और उत्तरदायित्व के साथ उन्हें पूरा करना होगा। प्रगति यदि कम भी है, लेकिन गति में एक दृढ़ता है, तो चिंता की बात नहीं है। कभी-न-कभी वह काम पूरा हो जाएगा। किंतु यदि प्रगति के चरण तो लंबे-चौड़े दीखते हैं और गति में दृढ़ता नहीं है, तो निश्चय ही शीघ्र ही थकान घेर लेगी और उदासीनता गतिहीन हो जाने के लिए विवश कर देगी। संस्कारों में परिवर्तन लाने की योजना तभी सफल होगी, जब स्थिति के अनुसार व्यावहारिक कार्यक्रम बनाया जाए और दृढ़तापूर्वक एक-एक कदम बढ़ाया जाए। ऐसा करने से ही संस्कारों में परिवर्तन संभव है अन्यथा नहीं। जिस दिन अनात्म विषयक कार्यक्रमों की अपेक्षा आध्यात्मिक विषयक अधिक आनंद और उत्साह देने वाले अनुभव होने लगे और शरीर की अपेक्षा आत्मा की चिंता अधिक रहने लगे, तो समझना चाहिए कि संस्कार बदल गए हैं और अब शीघ्र ही हमारा जीवन-यान भवसागर के उस तट की ओर चल पड़ा है, जिस पर कल्याण-कुसुमों से सुशोभित वनस्पति लहलहा रही है।

मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है। उसे चाहिए कि वह शरीर की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्त्व दे। आत्मा का स्वार्थ ही सच्चा स्वार्थ है जिसे परमार्थ के नाम से भी पुकारा जाता है। परमार्थ पथ पर अग्रसर होने के लिए आवश्यक है कि दैहिक संस्कारों के स्थान पर आत्मिक संस्कारों की स्थापना की जाए। इसके लिए आध्यात्मिक कार्यक्रमों को निर्धारित कर उनकी सफलता के लिए चिंतापूर्वक उसी प्रकार प्रयत्न करना होगा, जिस प्रकार भोजन, वस्त्र और घर-गृहस्थी की चिंता की जाती है।

मानव जीवन का लक्ष्य आत्म-कल्याण है। इस लक्ष्य को पाने के लिए आवश्यक है कि आत्मा को शरीर के ऊपर प्रधानता दी जाए। यह क्रिया विचारकोण बदल देने से सहज में पूरी हो सकती है। हम मनुष्य हैं, शरीर ही सब कुछ है। इसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है, इस प्रकार के दैहिक विचारों के स्थान पर इन विचारों को स्थापित करना होगा—हम आत्मा हैं। शरीर तो साधन मात्र है। आत्मा का कल्याण करना ही हमारा परम धर्म है, जिसका निर्वाह हर मूल्य पर करना ही है। इस प्रकार मनुष्य शारीरिक दासता से बचकर आत्मा की सेवा में समर्पित हो जाएगा। जिससे उसे यह पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं रहेगा कि “हाय! मैंने अज्ञान के वशीभूत होकर अमर आत्मा की उपेक्षा कर दी और अपना सारा जीवन उस शरीर की सेवा में लगा दिया, जो नश्वर है और जिसकी दासता पतनकारी विकार देने के सिवाय और कुछ नहीं दे पाती।”

अमर हो तुम, अमरत्व को पहचानो

पिता के वंश, ऐश्वर्य, गुण, शक्ति और सामर्थ्य के अनुरूप बालक अपने जीवनस्तर का निर्माण प्रारंभ करता है। उसके स्वाभिमान, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा में पिता की आत्म-स्थिति का अधिकांश प्रभाव होता है। धनी पिता का एक पुत्र सुंदर वस्त्र पहनता है, अच्छा खाना खाता है, चलने, यात्रा करने में उसकी शान-शौकत

अन्यों से भिन्न होती है। जैसा बाप करता है, प्रायः उसी का अनुकरण बेटे किया करते हैं।

भिखारी के बेटे की स्थिति भिखारी जैसी होती है। फटे कपड़े, अस्त-व्यस्त बाल, रुखा शरीर सब कुछ ठीक भिखारियों जैसा। इससे अधिक शान का जीवन बिताना भला वह भिखारी का बालक क्या जान सकता है? जिसने जीवन में न अच्छा भोजन देखा हो, न अच्छे वस्त्र पहने हों और न आलीशान मकान में रहने का सौभाग्य ही मिला हो। शील, गुण और आचरण अधिकांश व्यक्तियों को पैतृक संपत्ति के रूप में ही मिला करते हैं।

यह उत्तराधिकार मनुष्य को भी ठीक इसी रूप में मिला है। परमात्मा का पुत्र होने के नाते उसे वे सारी निधियाँ मिली हैं, जिनसे यह सांसारिक जीवन सुख, सुविधा और शान के साथ बिता सकता है। परमात्मा के जो गुण और शक्तियाँ बताई जाती हैं, वह मनुष्य में, आत्मा में ठीक उसी तरह सन्निहित हैं। ऐसे कोई अधिकार शेष नहीं, जो ईश्वर ने अपने युवराज को न दिए हों। वह अपने बेटों को निराश्रित, निरीह और निर्बल कैसे देख सकता है? अपनी संपूर्ण शक्तियों का अनुदान उसने अपने बेटे मनुष्य को दिया ताकि वह इस संसार में उल्लास का जीवन जी सके। स्वयं सुख भोगकर आने वालों को भी वैसा ही उत्तराधिकार सौंपता हुआ जी सके।

आत्मदर्शी ऋषियों की लेखनी आत्मा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए थक गई, पर कथानक पूरा न हो पाया। शक्तियों की सीमा को 'नेति-नेति' कहकर पुकारना पड़ा, क्योंकि वे वर्णन भी कब तक करते। १०० वर्षों के जीवन में यही हजार, दो हजार पुस्तकों में आत्मसत्ता की महत्ता लिख जाते, इससे अधिक और हो भी क्या सकता था? अनंत शक्ति संपन्न आत्मा का गुणानुवाद कब तक गाया जाता?

किंतु आज के मनुष्य की दीन-हीन स्थिति देखकर लगता है कि शास्त्रकार अतिशयोक्ति कर गए हैं, कुछ-का-कुछ लिख गए

हैं। परमात्मा पूर्ण वैभव संपन्न है, पर मनुष्य के पास पेट भरने के और सुख से रहने के भी साधन नहीं। परमात्मा विश्वदर्शी है, पर मनुष्य अपने आप को भी नहीं जानता। परमात्मा असीम शक्तिशाली है, पर मनुष्य तो छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी औरें का मुँह ताकता है। किसी भी गुण राशि में तो उसका और परमात्मा का मेल नहीं खाता, फिर विश्वास कैसे किया जाए कि मनुष्य परमात्मा का पुत्र है, अमृतत्व का उत्तराधिकारी युवराज है।

वस्तुतः आपकी शक्ति अपार है, आपके गुण अनंत हैं, आपकी क्षमता असीम है, पर यह है उत्तराधिकार रूप में ही। परमात्मा संपूर्ण विश्व का पालनकर्ता, सर्वरक्षक, सबका भरण-पोषण करने वाला है, इसलिए उसे सतर्कता बरतनी पड़ी कि वह अपनी शक्तियाँ योग्य हाथों में सौंपे और उसे भले कार्यों में प्रयुक्त हुआ देखें। जब कोई ऐसा उत्तराधिकारी व्यक्ति उसे दिखाई दे जाता है, तो अपनी तिजोरी की चाबी भी उसे सौंप देता है। अयोग्य व्यक्तियों को वह अपनी शक्तियाँ देकर उनका दुरुपयोग होता कैसे देख सकता है? उत्तराधिकार तो किसी अच्छे व्यक्ति को ही दिया जाता है।

एक पिता की कई संतानें होती हैं। कोई कपटी, कोई चोर, कोई लबार, कई उनमें से शील-स्वभाव से गुणवान और आज्ञाकारी भी होते हैं। पिता बड़ी सावधानी से उन सबका निरीक्षण करता रहता है और जिसे योग्य समझता है, उसे गृहस्थी का भार सौंपने, सारा धन दे जाने में प्रसन्नता अनुभव करता है। जो उसकी शान, ऐश्वर्य और वंश परंपरा से विमुख होकर अकृत्य करता है, उसे देता तो कुछ नहीं, उलटे उसे दंड और भुगतना पड़ता है।

साधारण मनुष्यों की जब यह दशा होती है, तो परमात्मा को अधिक सावधानी रखनी आवश्यक थी, क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र भी तो बहुत बड़ा है, सारे संसार में उसी के बेटे तो विचरण कर रहे हैं।

साधारण मनुष्य का बेटा जब अपने पिता की संपत्ति का स्वामित्व पाता है, तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। सबके

सामने अकड़कर शान के साथ चलता है। उसे न किसी का भय होता है और न कोई अभाव। तो फिर जिसे परमात्मा का उत्तराधिकार मिल जाए तो उसकी प्रसन्नता, निर्भयता, वैभव तथा ऐश्वर्य का तो कहना ही क्या। वह चाहे तो सारे संसार के सामने ऐंठकर, अकड़कर चल सकता है। उसे भय और अभाव हो भी कहाँ सकता है?

मनुष्य स्वभावतः अधोगामी है। इस दृष्टि से यह नियंत्रण रखना जरूरी भी था, पर ईश्वर न्यायकारी भी है, उसने आत्म-कल्याण का मार्ग किसी के लिए भी अवरुद्ध नहीं किया। वह साधन सबको समान रूप से मिले, जिनके माध्यम से मनुष्य अपने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के उद्देश्य पूरे कर सकता है।

वायु, जल, प्रकाश, मेघ आदि का उपभोग सब समान रूप से करते हैं। विचार, अनुभव, स्मृति, दर्शन, श्रवण आदि के साधन भी प्रायः सभी को एक समान ही मिले हैं। इनके द्वारा मनुष्य यदि चाहता, तो आत्म-विकास कर सकता था, पर उसने किया कहाँ? सब कुछ देखते हुए भी मनुष्य अज्ञान बना रहा। घटनाएँ कई बार घटीं, घटती रहती हैं, पर उसने कभी विचार करना नहीं चाहा। इसी कारण वह अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठ भी नहीं सका।

लोग कहा करते हैं कि जीव जब माता के गर्भ में बंदी की-सी स्थिति में पड़ा होता है, तब वह परमात्मा से अनेक प्रकार की विनती करता है। वह चाहता है कि इस जन्म-मरण के फंदे से जितनी जल्दी छुटकारा मिले, बंधन-मुक्ति मिले उतना ही अच्छा है। इसके लिए वह तरह-तरह की प्रार्थनाएँ करता है, किंतु जन्म लेने के बाद इस संसार की हवा लगते ही वह सब भूल जाता है और फिर वही शिश्नोदर परायण जीवन जीने में लग जाता है।

लोगों की भूल यह है कि वे अपने आप को ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार करना नहीं चाहते। विज्ञान का सहारा लेकर लोग प्रत्यक्षवाद की दुहाई देते हैं, किंतु यह खुला हुआ संसार क्या कम प्रत्यक्ष है,

मृत्यु-जन्म की घटनाएँ क्या कम प्रत्यक्ष हैं? जन्म, जरा, यौवन का पाना और खो देना भी किसी को विचार प्रदान नहीं कर सकता क्या?

ईश्वर का पुत्र होने के नाते मनुष्य असीम आध्यात्मिक शक्तियों और दैवी संपदाओं का स्वामी बन सकता है, किंतु वह अपने को इस स्थिति वाला मानता कब है? अपनी इस धृष्टता के कारण मनुष्योचित आधार से भी पतित होकर दुष्कर्म करता है। अपने स्वार्थ के लिए औरों के अधिकारों का अपहरण करता है। खुद का पेट भरे दूँस के, दूसरा चाहे भूख से मर जाए, अपना घर भर जाए, दूसरे चाहे कानी कौड़ी के लिए तरसते रहें। इतना ही नहीं, वह अपने से गई-गुजरी स्थिति वालों के साथ पैशाचिक उत्पीड़न करता है, दूसरों का खून पीता और अट्टहास करता है। ऐसे दुष्ट पुत्र को परमात्मा अपनी शक्तियाँ देता कैसे? उसे तो दंड ही मिलना चाहिए था और वही मिलता भी है।

स्वार्थ और संकीर्णता की दुष्प्रवृत्तियों के रहते हुए मनुष्य परमात्मा का उत्तराधिकारी कैसे बन सकता है? उसे चाहिए था कि वह पैतृक गुणों को आधार मानकर चलता और अपने आप को ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार कर ईश्वरीय आदेशों का पालन करता। ईश्वर शक्ति का स्त्रोत है, उससे संबंध स्थापित करता तो मनुष्य का जीवन शक्ति संपन्न हो जाता। परमात्मा की विशेषताएँ उसमें भी परिलक्षित होती हैं।

हमारा शाश्वत स्वरूप पीछे पड़ गया है और हम अपने आप को मनुष्य का शरीर मान बैठे हैं, इसलिए शारीरिक सुखों तक ही सीमित भी हैं। शरीर में इंद्रियों के सुख हैं, सो मनुष्य उन्हें भी भोगने का हर घड़ी इच्छुक बना रहता है। सुख की इस इच्छा में वह अपने विज्ञानमय स्वरूप को भूल जाता है। जब तक शरीर रूपी साधन अपनी प्रौढ़ अवस्था में रहता है, तब तक भोगों की आसक्ति में पड़े रहते हैं और इस बीच अपनी असफलता का दोष औरों के मत्थे मढ़ना सीख जाते हैं और इस तरह संतोष करना चाहते हैं, पर

शाश्वत नियम कभी बदलते नहीं। समय पर वृद्धावस्था आनी ही थी, शरीर दुर्बल पड़ना ही था, मौत को आना ही था, उस समय न किसी को दोष देते बनता है, न कुछ किए होता है। दुःख की स्थिति में, अज्ञान की स्थिति में वह मर जाता है और बार-बार इसी चक्कर में पड़ा दुःख भोगता रहता है।

परमात्मा की सृष्टि में सुख-ही-सुख है। दुःख की स्थिति का नाम भी नहीं है, पर सारे फसाद की जड़ यह है कि लोग अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना नहीं चाहते। बेटा अपने धनी बाप से बिछुड़ गया है और अपने आप को निर्धन की-सी स्थिति में पड़ा हुआ अनुभव करता है। उसका शरीर, प्राण और मन सब अस्त-व्यस्त है, क्योंकि वह जानता भी नहीं कि उसका बाप कितना व्यवस्थित, कितना विकसित और कितना विशाल है? अपने अमर स्वरूप को मनुष्य पहचान जाए, तो ये विशेषताएँ उसमें भी तत्काल परिलक्षित होने लगें।

दुधारू गाय की बछिया भी होती है। मीठे आम की नसल में उत्पन्न किया हुआ आम भी उसी गुण वाला होता है। संतरे के पेड़ में नीबू के फल नहीं लगते। मनुष्य की जीवात्मा अपने अमर स्वरूप में ईश्वरीय गुणों से ओत-प्रोत है, किंतु उसकी यह महानता अज्ञानता के अंधकार में छिपी हुई है। मनुष्य अपने पिता परमात्मा के गुण, ऐश्वर्य और वैभव के अनुरूप अपना जीवनक्रम बनाता तो उसकी शक्तियाँ भी छिपी हुई न रहतीं और वह भी अपने आप को अपने पिता के सदृश ही सत्, चित् और आनंद रूप में पाता।

आप अपने आप को रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, मेद आदि से बना हुआ क्षुद्र शरीर मत मानिए। आप आत्मा हैं। इस तथ्य को भली-भाँति समझ लें। आत्मा अपने अमरत्व को पहचानने के लिए ही मनुष्य शरीर में अवतरित हुई है। उसे इस उद्देश्य को पूरा करना ही चाहिए। अमरत्व का आनंद लूटना ही चाहिए। इस उद्देश्य के लिए वह अग्रसर हो तो सचमुच उसका यह अलभ्य अवसर पाना भी सार्थक हो जाए।



मन से छीनकर प्रधानता आत्मा को दीजिए

मनुष्य सामान्यतः जो बाह्य में देखता, सुनता और समझता है वह यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किंतु वह भ्रमवश उसी को यथार्थ ज्ञान मान लेता है। अवास्तविक ज्ञान को ही ज्ञान समझकर और उसके अनुसार ही कार्यों को करने के कारण ही मनुष्य अपने मूल उद्देश्य—सुख-शांति की दिशा में अग्रसर न होकर विपरीत दिशा में चल पड़ता है।

यथार्थ ज्ञान का अनुभावक मनुष्य का अंतरात्मा ही है। शुद्ध, बुद्ध एवं स्वयं चेतन होने से उसको अज्ञान का अंधकार कभी नहीं व्याप सकता। परमात्मा का अंश होने से वह उसी की तरह सत्, चित् एवं आनंदमय है। जिस प्रकार परमात्मा के समीप असत्य की उपस्थिति असंभव है, उसी प्रकार उसके अंश आत्मा में भी असत्य का प्रवेश संभव नहीं है।

मनुष्य का अंतरात्मा जो कुछ देखता, सुनता और समझता है वही सत्य है, वही यथार्थ ज्ञान है। अंतरात्मा से अनुशासित मनुष्य ही सत्य के दर्शन तथा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि कर सकता है। यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर मनुष्य के सारे शोक-संतापों एवं दुःख-द्वंद्वों का स्वतः समाधान हो जाता है। जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ अंधकार और अज्ञान नहीं होगा, वहाँ दुःख रह ही नहीं सकता। प्रकाश का अभाव ही अंधकार है और ज्ञान की अनुपस्थिति ही दुःख। दुःख का कोई अपना मौलिक अस्तित्व नहीं है।

अंतरात्मा की बात सुनना और मानना ही उसका अनुशासन है। शंका हो सकती है कि क्या मनुष्य का अंतरात्मा बोलता भी है? हाँ, मनुष्य का अंतरात्मा बोलता है। किंतु उसकी वाणी स्थूल ध्वनिपूर्ण नहीं होती। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती है, जिसे बाह्य एवं स्थूल श्रवणों से नहीं सुना जा सकता। मनुष्य का अंतरात्मा बोलता है, किंतु मौन विचार स्फुरण की भाषा में, जिसे मनुष्य अपनी कोलाहलपूर्ण मानसिक स्थिति में नहीं सुन सकता। अंतरात्मा की वाणी सुनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य का मानसिक कोलाहल बंद हो।

अंतरात्मा का सानिध्य मनुष्य को उसकी आवाज सुनने योग्य बना देता है। यों तो मनुष्य की अंतरात्मा उसमें सदा ओत-प्रोत है किंतु वह तब तक उसका सच्चा सानिध्य नहीं पा सकता, जब तक वह उससे परिचय नहीं करता, उसे जान नहीं पाता। परिचयहीन निकटता भी एक दूरी ही होती है। रेलयात्रा में कंधे-से-कंधा मिलाए बैठे दो आदमी अपरिचित होने के कारण समीप होने पर भी एक-दूसरे से दूर ही होते हैं। अजनबी आदमी को छोड़ दीजिए, जिंदगी भर एक-दूसरे के पास रहने पर भी आंतरिक परिचय के अभाव में एक-दूसरे से दूर ही रहते हैं। वे कभी भी एक-दूसरे को ठीक से नहीं समझ पाते।

अंतरात्मा को जानने का एक ही उपाय है कि उसके विषय में सदा जिज्ञासु एवं सचेत रहा जाए। जो जिसके विषय में जितना अधिक जिज्ञासु एवं सचेत रहता है, वह उसके विषय में उतनी ही गहरी खोज करता है और निश्चय ही एक दिन उसे पा लेता है। अपनी आत्मा के विषय में अधिक-से-अधिक जिज्ञासु एवं सचेत रहिए। आप अपनी आत्मा से परिचित होंगे, वाणी सुनेंगे, सच्चा मार्ग निर्देशन पाएँगे, तो अज्ञान से मुक्त होंगे और जीवन में यथार्थ सुख-शांति के अधिकारी बनेंगे।

मनुष्य जो काम करता है, वह अधिकतर करता अंतःप्रेरणा से ही है, किंतु वह अंतःप्रेरणा अंतरात्मा की नहीं होती। वह होती है मन की, जो कि स्वभावतः पतन पथगामी होती है। चंचल, निरंकुश एवं उच्छृंखल मन मनुष्य के लिए यातना का महामूल है। वह इंद्रियों द्वारा कार्य रूप में स्फुरित होकर मनुष्य को अंधकार की ओर ही खींच ले जाता है।

जब तक मनुष्य उच्छृंखल मन की प्रेरणा से गतिशील होता रहता है, उसकी आवाज का अनुगमन करता रहना है, तब तक निरंतर ऐसे मार्ग पर ही चलता रहता है जिस पर दुःख-द्वंद्वों एवं शोक-संतापों की कंटकित झाड़ियाँ ही उगी रहती हैं। यथार्थ बात यह है कि मनुष्य अपने अंतरात्मा की आवाज इसी मन के कोलाहल

के कारण नहीं सुन पाता। जहाँ मन का स्वभाव उछल-कूद मचाना और शोर करने का है, वहाँ मनुष्य का अंतरात्मा शांत एवं सुस्थिर होता है। न तो वह मन की तरह कोलाहल कर पाता है और न उछल-कूद मचा पाता है। अपनी इसी चपलता के कारण ही मन मनुष्य की अंतरात्मा के आगे बना रहता है और उसे तरह-तरह की अवांछनीय प्रेरणाएँ दिया करता है। आवाज में प्रबलता एवं निर्देश में शासन का भाव रखकर मन मनुष्य को शीघ्र ही अपने अनुकूल प्रभावित कर लेता है, हठपूर्वक उसे अपना आज्ञापालक बना लेता है। जबकि शुद्ध-बुद्ध एवं शांत आत्मा कभी भी मनुष्य से किसी बात का दुराग्रह नहीं करता।

अंतरात्मा के जिज्ञासु को चाहिए कि वह मन के कोलाहल की ओर से कान बंद कर अंतरात्मा की आवाज सुनने का अभ्यास करे। जिस दिन वह अंतरात्मा का निर्देश सुनने और पालन करने लगेगा, निश्चय ही उस दिन से यथार्थ सुख-शांति का अधिकारी बन जाएगा। जिज्ञासा की प्रबलता से मनुष्य के कान उस तन्मयता को सरलता से सिद्ध कर सकते हैं, जो अंतरात्मा की आवाज सुनने में सफलतापूर्वक सहायक हो सकती है। आत्मा मनुष्य का सच्चा मित्र है। वह सदैव ही मनुष्य को सत्पथ पर चलने और कुमार्ग से सावधान रहने की चेतावनी देता रहता है। किंतु खेद है कि मनुष्य मन के कोलाहल में खोकर उसकी आवाज नहीं सुन पाता। किंतु यदि मनुष्य वास्तव में उसकी आवाज सुनना चाहे, तो ध्यान देने से उसी प्रकार सुन सकता है जिस प्रकार बहुत-सी आवाजों के बीच भी उत्सुक शिशु अपनी माँ की आवाज सुनकर पहचान लेता है।

अंतरात्मा मनुष्य का मित्र है और सदैव ही उसका हित चाहता रहता है, तो फिर वह उसके लिए प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता, लुका-छिपा क्यों रहता है? यह प्रश्न किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क में उठ सकता है। इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि आत्मा सदा-सर्वदा

प्रत्यक्ष ही रहता है, किंतु यह मनुष्य का ही दृष्टि दोष है कि वह उसे देख नहीं पाता। सूर्य सदैव प्रत्यक्ष है, जब उसके तथा दृष्टि के बीच में कोई व्यवधान आ जाए, तो सूर्य उसके लिए अप्रत्यक्ष ही है। मनुष्य तथा उसके आत्मा के बीच मन की प्रधानता का परदा पड़ा हुआ है, जिसके कारण प्रत्यक्ष आत्मा भी मनुष्य के लिए अप्रत्यक्ष ही रहता है। यदि मनुष्य इस मन की प्रधानता की उपेक्षा कर सके, तो निश्चय ही उसका अंतरात्मा उसके लिए प्रकाश के समान ही प्रत्यक्ष हो जाए।

मन को प्रधानता देने वाले सदैव ही अपनी आत्मा से वंचित रहा करते हैं और उससे मिलने के लिए उत्सुक होने पर भी सानिध्य प्राप्त नहीं कर पाते। मन को प्रधानता देने वाले उसके निर्देश एवं संकेत से ही संचालित हुआ करते हैं। बहुत बार बहुत से मनीषीजन अपने मन को साधना द्वारा शुद्ध एवं प्रबुद्ध भी कर लिया करते हैं, किंतु तब तक वह शुद्ध एवं प्रबुद्ध मन विश्वस्त नहीं माना जा सकता, जब तक उसकी सत्ता आत्मा में अंतर्हित नहीं हो जाती। बहुत बार संस्कृत एवं सुशिक्षित होकर मन और अधिक प्रबल हो जाता है, उसकी सत्ता इतनी बढ़ जाती है कि वह आत्मा को अनुशासित करने का प्रयत्न ही नहीं करता, अपितु अपने को मनुष्य का अंतरात्मा ही घोषित करने लगता है। किंतु आत्मा के प्रति उत्सुक मनीषीजन उसकी इस दुरभिसंधि को अच्छी तरह जानते हैं और कभी भी उसके छल में नहीं आते।

मन जितना अधिक प्रबल एवं प्रबुद्ध होता है उतना ही अधिक दुराग्रही हो जाता है। वह जो कुछ देखता, सुनता, अनुभव एवं स्वीकार करता है, उसे ही सत्य मान लेता है और हठपूर्वक इस बात का प्रयत्न किया करता है कि जिस बात को उसने स्वीकार किया, मनुष्य भी उसे सत्य माने तथा यथावत् स्वीकार कर ले। अपने आपेक्षिक ज्ञान का भी दुराग्रही मन सत्य सिद्ध करने के लिए ऐसे-ऐसे समर्थ तर्कों का अनुसंधान कर लेता है कि जिनको सुनकर मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है और उनको स्वीकार कर लेता है। किंतु

वास्तविकता यह होती है कि मन का अनुभूत ज्ञान कभी भी सत्य नहीं हो सकता। मन की सत्ता भौतिक है, सांसारिक है। अस्तु, उसका अनुभव किया हुआ जड़जन्य ज्ञान सत्य नहीं हो सकता। मन की प्रेरक प्रबलता से बचने का एक ही उपाय है कि किसी भी स्थिति में उस पर विश्वास न किया जाए और प्रधानता मन से छीनकर अंतरात्मा को दी जाए। प्रधानता के अभाव में उसका दुराग्रह कम हो जाएगा और मनुष्य की अमर आत्मा उदीयमान होने लगेगी।

मनुष्य तब तक विश्वस्त नहीं हो सकता, जब तक जन्म-जन्म के संस्कारों का जमा मल उस पर से पूर्णरूपेण धुल नहीं जाता। निर्मल हो जाने पर मन की विक्षिप्तता नष्ट हो जाती है और वह शांत एवं सुस्थिर हो जाता है। मन की स्तब्धता की स्थिति में अंतरात्मा की आवाज वैसे ही सुनाई देने लगती है जैसे मेघों का गर्जन बंद हो जाने पर पपीहे की आवाज सुनाई देने लगती है। मनुष्य के मन का वांछित संस्कार तभी संभव है, जब उसकी प्रधानता विनष्ट कर दी जाए और आत्मा को प्रधानता देकर उसी के प्रति अधिकाधिक सजग, सचेत एवं समुत्सुक बना जाए।

स्तब्ध हो जाने पर मन की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं रहती। स्तर के अनुसार या तो वह आत्मा के वशवर्ती हो जाता है अथवा सिंधु में बिंदु और प्रकाश में अंधकार की तरह समाहित हो जाता है? मन के स्तब्ध हो जाने का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि मनुष्य की अंतःप्रेरणाओं में कोई द्वंद्व, कोई विरोध अथवा कोई संकल्प-विकल्प ही न रहे। उसके हृदय में केवल एक निर्द्वंद्व, निर्विघ्न, निर्विरोध एवं निश्चित विचार उठे और जिसे क्रियात्मक रूप देने में मनुष्य के मस्तिष्क में उसके अशुभ होने का संदेह ही न रहे।

मनुष्य के वैचारिक द्वंद्व का कारण यही होता है कि अंतरात्मा एवं मन की विरोधी सत्ताएँ बनी रहती हैं। निश्चय ही स्वाभाविक विरोध होने से अपने धर्मानुसार मन मनुष्य को गलत रास्ते पर प्रेरित

करेगा और आत्मा अवश्य ही उसका विरोध करेगी। आत्मा मनुष्य को सत्पथ पर चलने के लिए कहेगी, मन उसमें वितर्क करेगा। 'किया जाए या न किया जाए' का विरोधी द्वंद्व आत्मा के साथ मन की सत्ता बनाए रखने के कारण ही उत्पन्न होता है।

जब तक मनुष्य अपनी आत्मा द्वारा पूरी तरह अनुशासित नहीं हो पाता, आत्मा की ओर से निषेधात्मक निर्देश आते ही रहते हैं। जब किसी भी संकल्प का निषेध होता रहे, समझना चाहिए कि अभी मन की कुछ-न-कुछ स्वतंत्रात्मक सत्ता बनी हुई है और वह हमको गलत रास्ते पर प्रेरित करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसका कि आत्मा विरोध कर रही है। विरोध तो मन भी करता है किंतु मन के उस विरोध का भी एक सूक्ष्म विरोध होता रहता है, जो कि आत्मा की ओर से होता है और जिसे थोड़ा-सा ध्यान देने पर अनुभव कर सकता है।

आत्मा अमर है, शाश्वत है, सत्य है, इसलिए उसका विनाश नहीं हो सकता और न उसकी स्थिति ही बदल सकती है। मन भौतिक है, अनक्षर है, उसी को मारना अथवा आत्मा के वशीभूत होकर उसी में अपने को विसर्जित करना होगा। आत्मा की आवाज सुनने और उसका साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य मन की प्रधानता का अपहरण करके आत्मा को दे। इस प्रकार वह आत्मा के प्रति सजग, सचेत व उत्सुक बनकर अपना भविष्य बनाएगा और शाश्वत सुख का अधिकारी बनेगा।

मनुष्य और उसकी महान शक्ति

परमाणु शक्ति के संबंध में आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि जब उसकी संपूर्ण जानकारी मनुष्य को हो जाएगी, तो सारे ग्रह-नक्षत्रों की दूरी ऐसी हो जाएगी, जैसे पृथ्वी पर एक गाँव, किंतु इसकी जानकारी का भी अधिष्ठाता मनुष्य है। अतः उसकी शक्ति का अनुमान लगाना भी असंभव है। मनुष्य में वे सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं जिनसे इस संसार का विनाश भी हो सकता है और

निर्माण तो इतना अधिक हो सकता है कि उसका एक छोटा-सा रूप सुरम्य धरती को ही देख सकते हैं।

मनुष्य विधाता की रचना का सर्वश्रेष्ठ चमत्कारिक प्राणी है। अव्यवस्थित धरती को सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय उसे ही प्राप्त है। ज्ञान, विज्ञान, भाषा, लिपि, स्वर आदि की जो विशेषताएँ उसे प्राप्त हैं, उनसे निःसंदेह उसकी महत्ता ही प्रतिपादित होती है। मनुष्य इस संसार का समग्र संपन्न प्राणी है। महर्षि व्यास ने इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि

नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥

“मैं बड़े भेद की बात तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से बढ़कर इस संसार में और कुछ भी नहीं है। वह सर्वशक्ति संपन्न है। जहाँ चाहे उलट-फेर कर दे, जहाँ चाहे युद्ध, मार-काट मचा दे। जी में आए तो शांति और सुव्यवस्था स्थापित कर दे। कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जो मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। धन, पद, यश आदि कोई वैभव ऐसा नहीं, जिसे वह प्राप्त न कर सकता हो।”

भगवान राम और कृष्ण भी मनुष्य ही थे, किंतु उन्होंने अपनी शक्तियों का उत्कर्ष किया और नर से नारायण बनकर विश्व में पूजे जाने लगे। मनुष्य अपने पौरुष से—विद्या, बुद्धि और बल से—वैभव प्राप्त कर सकता है। देवत्व की उच्च कक्षा में प्रतिष्ठित हो सकता है, वह भगवान बन सकता है। उसकी शक्ति से परे इस संसार में कुछ भी तो नहीं है। शास्त्रकार का कथन है—“यद्ब्रह्मांडे तत्पिण्डे” अर्थात जो कुछ भी इस संसार में दिखाई देता है, वह सभी बीज रूप से मनुष्य के शरीर में—पिंड में विद्यमान है।

मनुष्य दीन, हीन और पददलित तभी तक है जब तक वह अपने आप को पहचानता नहीं। तुलसीदास जी जब तक निकृष्ट, जीवन व्यतीत करते रहे, तब तक वे शोक-संताप में डूबे रहे, किसी ने उन्हें जाना तक नहीं, बेचारे मारे-मारे इधर-से-उधर

घूमते रहे। किंतु जैसे ही उनकी आंतरिक शक्तियाँ प्रकाशित हुईं, तुलसीदास जी अमृत पुत्र हो गए। जन-जन की वाणी में समा गए, संत बन गए, महात्मा हो गए। वाल्मीकि, अंगुलिमाल आदि की कथाएँ सर्वविदित हैं। विल्वमंगल सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हुए, इसके मूल में मानवीय अंतःकरण का विकास ही सन्निहित है। वह शक्तियाँ, वह सामर्थ्य प्रत्येक मनुष्य में है, अंतर केवल इतना है कि लौकिक कामनाओं से धिरा हुआ इनसान पारलौकिक संभावनाओं का विचार तक नहीं करता, इसी कारण वह छोटा है, तुच्छ है, निकृष्ट है।

अपने प्रभाव से मनुष्य चेतना-विहीन प्राणियों को भी नवजीवन देने की शक्ति रखता है। देश, समाज और राष्ट्र तक बदल डाले हैं उसने। मनुष्य सामाजिक जीवन का निर्माता है, उससे राष्ट्र को बल मिलता है। मानवीय शक्ति की एक चिनगारी से युग परिवर्तित हुए हैं, हो रहे हैं और यह क्रम आगे भी युग-युगांतरों तक चलता रहेगा। वह जिधर चलता है, दिशाएँ चलने लगती हैं, रुकता है तो सारा संसार निष्ठाण-सा हो जाता है। मनुष्य ही संसार की गति, जीवन, और प्राण है। वह न होता तो सारा संसार ऊबड़-खाबड़, अस्त-व्यस्त और जड़वत पड़ा होता। धरती पर यही प्राण बिखराता और विभिन्न प्रकार के खेल रचाया करता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगिक संस्थाओं की ओर दृष्टि घुमाने से उसकी महत्ता की बात और भी पुष्ट होती है। लगता है चाहे जब अणु-आयुधों का प्रयोग करके वह सारी धरती हो तहस-नहस कर डाले। यह भी संभव है कि वह उसी शक्ति का उपयोग रचनात्मक कार्यों में करने लगे तब तो स्वर्ग के सभी बहुमूल्य पदार्थ यहीं प्राप्त करने में कोई मुश्किल शेष न रहेगी। मनुष्य के अंदर भगवान का तेज, सृष्टि का सत्त्व, सिद्धियों के स्रोत देखकर उसे प्रभु का प्यारा कहने को मन करता है। लगता है कि इन्हीं विशेषताओं के कारण संसार

के दूसरे प्राणी शारीरिक शक्तियों में प्रबल होते हुए भी उसे शीश झुकाते हैं।

इतना होते हुए भी मनुष्य की यह दलित और गलित अवस्था देखकर एकाएक उसकी शक्तियों पर विश्वास नहीं होता। इसका एक ही कारण है कि लोग सुखप्राप्ति के साधनों में भटक जाते हैं और अपनी शक्तियों से बंचित बने रहते हैं। सुख और शक्ति का मूल है—मनुष्य की आत्मा। जब तक वह आत्म-साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक उसकी शक्ति ऐसी ही है जैसे घर में अपार सोना गड़ा है, पर वह किस स्थान पर कितनी गहराई पर गड़ा है इस ज्ञान के अभाव में उस सोने की कोई उपयोगिता नहीं होती। आत्मा ही सिद्धियों की जननी है। ब्रह्म तादात्म्य का कारण और माध्यम भी वही है। उसे पहचाने बिना मनुष्य शक्तिवान नहीं हो सकता। इसके लिए मनुष्य को साधना, स्वाध्याय, संयम एवं पारमार्थिक जीवन का अभ्यास करना पड़ता है, तभी उस शक्ति का अभ्युदय होना संभव हो सकता है।

आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुल, देश और काल का कोई बंधन नहीं है। अपनी श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास, लगन और तत्परता के बल पर हीन कुल उत्पन्न व्यक्ति भी आत्मोद्धार कर सकता है। अजामिल, गुह, रैदास और कबीर आदि संतों के जीवन से यह प्रमाणित होता है कि आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्ण व्यवस्था बाधक नहीं। जीवन शोधन के द्वारा नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी सर्वांगी जैसी आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार सतयुग, द्वापर, कलियुग की सीमाएँ भी इस मार्ग में रुकावट नहीं डालती हैं। हमारे पूर्व पुरुष अनंत शक्तियों के स्वामी थे, यह उत्तराधिकार किसी-न-किसी रूप में हमें भी प्राप्त है और आगे भी यह क्रम सदैव इसी भाँति चलता रहेगा। संस्कृति, शिक्षा और सदाचार के अनुरूप कुल और काल में आत्मज्ञानी पुरुषों में न्यूनाधिक्य तो हो सकता है, किंतु यह परिस्थितियाँ इनके प्रतिबंधित नहीं हैं।

आत्म-परिष्कार निःसंदेह एक प्रकार का तप है। इससे कई व्यक्ति अपनी असमर्थता प्रकट करने लगते हैं। बचाव के लिए यह कहा करते हैं, “हमारी तो अब अवस्था नहीं रही।” या “हम अब बुढ़डे हो गए तो मन भी नहीं लगता” या “हम तो अभी नवयुवक हैं, अभी हमारे हँसने-खेलने के दिन हैं। धर्म-कर्म की बातें तो वृद्धावस्था में चलती हैं,” आदि। पर इसलिए वस्तुस्थिति बदलती नहीं। आत्मा जन्म-मरण रहित है। उसे न बुढ़ापा आता है न मृत्यु होती है। प्रत्येक परिस्थिति में वह एक-सा होता है। ऐसा न होता तो ध्रुव पाँच वर्ष की अवस्था में पूर्णता प्राप्त न करते। जगद्गुरु शंकराचार्य ने इकतीस वर्ष की अवस्था में ही वह कार्य पूरा कर दिखाया था जो कोई सौ वर्ष का व्यक्ति भी नहीं कर सकता था। संत ज्ञानेश्वर ने पंद्रह वर्ष की अवस्था में गीता की सुप्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी टीका लिखी थी। अमेरिका के प्रख्यात आविष्कारक एडिसन जर्जरावस्था के बाद तक सृष्टि के महत्वपूर्ण रहस्यों को खोजने में लगे रहे और सफलता पाई। आत्मोन्नति के मार्ग में आयु का कम या ज्यादा होना बाधक नहीं है, आवश्यकता केवल अपने संस्कारों के जागरण की होती है।

उन्नतिशील होना पूर्णतया भाग्य पर भी निर्भर नहीं है। विचारपूर्वक देखने से यह पता चलता है कि परमात्मा से जो साधन मनुष्यों को मिले हैं, वे प्रायः समान हैं। हर किसी को दो हाथ, दो पैर, नाक, आँख, मुख आदि एक जैसे मिले हैं। विचार, विद्या आदि के साधन भी प्रत्येक मनुष्य अपनी लगन के अनुसार प्राप्त कर सकता है। भाग्यवादी सिद्धांत कायरों और कापुरुषों का है। पुरुषार्थ एक भाव है और उसका कर्ता पुरुष है अर्थात् मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण अपने पौरुष से करता है। अपनी पूर्व असमृद्धि से किसी को अपनी क्षुद्रता स्वीकार नहीं कर लेनी चाहिए। बलवान् आत्माएँ प्रतिकूल दिशा में भी उन्नति करती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का सच्चा परिष्कार तो कठिनाइयों में ही होता है।

बाह्य साधनों के अभाव का रोना भी अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। आपके पास फाउंटेन पैन नहीं है, तो क्या इससे लिखने का काम रोक देना चाहिए? आप होल्डर से भी काम चला सकते हैं। कलम या पेंसिल ही इस्तेमाल कर लें तो क्या हर्ज है। मनुष्य साधनों का दास नहीं है, वह साधन स्वयं बनाता है। धन स्वतः पैदा नहीं होता, किया जाता है। इसलिए निर्धनता पर आँसू बहाना हम अकर्मण्यता मानते हैं। उद्योगी पुरुष तो हजार हाथ कुआँ खोदकर भी पानी निकाल लेते हैं। आत्मशोधन भी किसी साधन के अभाव में रुकता नहीं। यदि अपना मनोबल कमजोर न हो तो गई-गुजरी अवस्था में भी आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

अपनी इच्छाशक्ति दृढ़ हो तो स्थान, संगठन आदि के अत्यंत छोटे अभाव भी आत्मोत्थान में बाधा पहुँचा नहीं सकते। संसार के अधिकांश महापुरुषों ने तो आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग भी कर दिया था। एक दृष्टि से भौतिक संपन्नता आध्यात्मिक विकास में बाधक मानी गई है, क्योंकि इससे मनुष्य की चेष्टाएँ अंतर्मुखी नहीं हो पातीं, मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओं में ही फँसा रहता है। हमारे ऋषियों ने इसीलिए यज्ञीय जीवन की परंपरा को जन्म दिया है। वे स्वयं त्यागमय जीवन जीते थे। ऐसा ही आदेश वे हमें भी दे गए हैं। उनके ऐसा करने का एक ही उद्देश्य था कि मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाकर आत्म-कल्याण के मार्ग से कहीं विचलित न हो जाए।

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि मनुष्य अपनी आत्मा के दर्शन हेतु अपनी ही शक्तियों को प्रयुक्त करे, कोई बाह्य शक्ति आपकी सहायता नहीं कर सकती—

यद्यदासद्यते किञ्चत्केनचित्कवचिदेव हि ।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या यल्लभ्यते नान्यतः कवचित् ॥

अर्थात् मनुष्य यदि कुछ प्राप्त करता है, तो अपनी ही शक्तियों के द्वारा। बाहरी साधन सीमित सहायता मात्र दे सकते हैं। इसी प्रकार संत इमर्सन का कथन है, “मनुष्य अपनी सहायता आप ही कर सकता है।”

जिन सद्गुणों के आधार पर मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है, उनमें से प्रमुख है—आत्म-विश्वास। अंग्रेजी के प्रमुख कवि टेनिसन ने लिखा है—“जीवन शक्ति संपन्न हो सकता है, यदि हम में आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-संयम हो।” मनुष्य व्यर्थ ही लौकिक कामनाओं में डूबा रहता है। इससे उसका कोई भी प्रयोजन पूरा नहीं होता। मनुष्य का ध्येय इससे शरीर-सुख तक ही सीमित हो जाता है, किंतु जब वह यह विचार करने लगता है कि शरीर जड़ और चेतन शक्तियों का सम्प्रभाण है, तो उसकी आध्यात्मिक आस्था जाग्रत होती है। इसी का नाम आत्म-विश्वास है। इसी से आत्म क्षुद्रता का निवारण होता है।

संकल्प कर लेने मात्र से ही सफलता नहीं मिल सकती। इसके लिए क्रियाशील होना पड़ता है और संयमित जीवन द्वारा शरीरिक शक्तियों को गतिशील रखना पड़ता है। सौंदर्य लहरी में जगद्गुरु शंकराचार्य ने लिखा है—

शिवः शक्त्या युक्तौ यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

अर्थात् संकल्प सिद्धि के लिए कर्म करना पड़ता है। कर्म का आधार शक्ति है, तभी सामर्थ्य बनती है। शक्ति न हो तो क्रियाशीलता भी न रहेगी।

इस प्रकार मनुष्य जब धीरे-धीरे अपने दोष-दुर्गुणों को हटाकर श्रेष्ठ संस्कारों को धारण करने लगता है, तो उसके जीवन में, दृष्टिकोण में स्वभावतया परिवर्तन होने लगता है। भोग-विलास की लालसा मिट भी जाती है और आत्म-ज्ञान की इच्छा बलवान होती जाती है।

वैसे ही साधन भी मिलते जाते हैं और जीवन क्रम सरलतापूर्वक लक्ष्यप्राप्ति की ओर अग्रसर होने लगता है। यह साधन बाह्य नहीं होते, वरन् आंतरिक विशेषताएँ ही होती हैं। सत्य, अहिंसा, प्रेम, त्याग, सेवा, आशा, उत्साह, धैर्य, स्वाध्याय, संयम, सदाचार आदि के द्वारा उसका परिष्कार होकर शुद्ध, निर्मल तथा पवित्र आत्मा के दर्शन होने लगते हैं।

यही वह स्थिति होती है, जहाँ संपूर्ण शक्तियाँ आकर केंद्रीभूत हो जाती हैं और “अयं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म” की शक्तिशाली भूमिका पर मनुष्य पदार्पण कर जाता है। मनुष्य जिस उद्देश्य को लेकर इस धरती पर आता है, उसकी पूर्ति हो जाती है और वह अनंत सिद्धियों का स्वामी बनकर सुखोपभोग करता है। जिन्हें सुख की कामना हो, उन सबके लिए भी यही रास्ता है कि अपना पौरुष जाग्रत करें, शक्तिशाली बनें। तभी सच्चा सुख मिल सकता है। □

जीवन का दूसरा पहलू भी भूलें नहीं

विशाल सागर के बाह्य धरातल पर बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, परस्पर टकराती हैं। तूफान पैदा होते हैं, भँवरें उठती हैं। यत्र-तत्र बड़े-बड़े जहाज एवं नावों का आवागमन होता ही रहता है। सूर्य की गरमी से समुद्र का धरातल तपता है, जिससे भाप बनती है और वह मेघों का रूप धारण करके यत्र-तत्र बरसती है। इस तरह सागर के धरातल पर अनेक क्रियाएँ-हलचलें होती रहती हैं। यहाँ सृजन-विनाश, उत्थान-पतन की अनेक विचित्रताएँ देखने को मिलती हैं, किंतु उसी सागर के गहन अंतराल में स्थिति सर्वदा भिन्न होती है। न वहाँ कोई लहर होती है न कोई तूफान। न किसी तरह का संघर्षपूर्ण कोलाहल, उत्पात, शोरगुल, भयंकरता, वहाँ नाममात्र को भी नहीं होती। शांति, नीरवता, गंभीरता, स्तब्धता का साम्राज्य होता है। वहाँ गोता लगाने वाले उस रहस्य को जानते हैं। अपने बाह्य पटल पर होने वाले क्रिया-व्यवहार से सर्वथा मुक्त होता है सागर का अंतराल।

मानव जीवन के भी दो पहलू हैं—एक बाह्य, दूसरा आंतरिक। एक प्रकट स्थूल—दूसरा सूक्ष्म। एक परिवर्तनशील, क्षणभंगुर, नाशवान् तो दूसरा अजर, अमर, अविनाशी। लोक और लौकिकता की विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा से जीवन का बाह्य स्वरूप बनता है। अनेक दिशाओं, अनेक कार्यों में व्यस्त मनुष्य तरह-तरह के संघर्ष, उतार-चढ़ाव, सृजन-विनाश, उत्थान-पतन की पगड़ंडी पर नित्य-निरंतर ही चलता रहता है। वह धनोपार्जन करता है, जायदाद, मकान आदि बनाता है, उच्च पद-प्रतिष्ठा, शिक्षा, समृद्धि-प्रसिद्धि के लिए अनेक व्यापार, व्यवसाय करता है। हानि पहुँचाने वाले, पीड़ा देने वालों से बैर-विरोध करता है, तो लाभ पहुँचाने वालों से प्रेम। बाह्य उत्तेजनाओं से प्रेरित होकर मनुष्य सदैव अच्छे-बुरे आचरण, कार्य करता ही रहता है। कभी वह खुशियाँ मनाता है, तो कभी दुखी होता है। कभी हँसता है, तो कभी शोक में डूबकर रोता है। इस तरह यह क्रिया-व्यापार जीवन के बाह्य पटल पर नित्य-निरंतर ही देखा जाता है।

मानव जीवन का दूसरा पहलू है—आंतरिक, जो सूक्ष्म, स्थायी, समुद्र के अंतराल की तरह गंभीर, शांत, एकरस होता है। वहाँ न तो क्रोध की गर्जना सुनाई पड़ती है और न दुःख का क्रंदन। वहाँ संघर्ष, छीना-झपटी, राग-द्वेष, द्वंद्व, अपने-पराये का भेदभाव नहीं। मनुष्य के अंतराल से आत्मदेव की परम ज्योति निश्चल-निष्काम भाव से एकरस, अखंडित रूप में नित्य-निरंतर ही जलती रहती है। इसी आत्मज्योति को इंगित करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है—

“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मा निहितं गुहायां।”

मनुष्य के अंतराल में सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनंत, ज्योतिर्मय ब्रह्म परमतत्त्व का निवास है। जो “ज्योतिषां यद्ज्योतिः” अति शुभ्र ज्योतिषयों की भी ज्योति है। कदाचित हम एक क्षण भी अपने अंतर में घुसकर इस परम ज्योति के दर्शन कर लें, तो कृत-कृत्य हो जाएँ। परम शांति, स्तब्धता, नीरवता, गंभीरता एकरसता की किरणों में

सराबोर होकर जीवन के समस्त क्लेश, दुःख, संघर्ष, अशांति, दुःखों आदि से मुक्ति पा लें। ठीक उसी तरह जैसे सागर के अंतर में झुबकी लगाने पर एक नई दुनिया में प्रवेश मिलता है, जहाँ पर्याप्त शांति-नीरवता विराजमान होती है। बाह्य जगत का कोलाहल नहीं होता वहाँ पर।

हमारे जीवन की समस्त विकृतियों दुःख, द्वंद्वों, पाप-ताप, रोग-शोक, भय-क्लेश, अशांति आदि का मुख्य कारण यह है कि हम संसार और इसके पदार्थों तथा जीवन के बाह्य पटल को ही महत्त्व देते हैं, उसे ही एकमात्र सत्य मानते हैं और लौकिकता की विचित्रताओं, कृत्रिमताओं, यहाँ की घटनाओं को जीवन मान बैठते हैं। इन्हें ही जीवन का लक्ष्य बनाकर विभिन्न उत्तेजनाओं से अभिभूत हो अपनी जीवनीशक्ति को नष्ट करके पग-पग पर मृत्यु के नजदीक आते-जाते हैं। नाम, पद, प्रतिष्ठा को सजाने में, संसार के आमंत्रण-निमंत्रण, खेल-तमाशों में दिन-रात हम लोग लगे रहते हैं और अपनी जीवनीशक्ति निःशेष करते जा रहे हैं, जो हमारे लिए अशांति, क्लेश-द्वंद्वों का कारण बनती है।

मनुष्य को यह सुविधा प्राप्त है कि वह बाह्य संसार की तरह ही अपने अंतःप्रदेश की भी यात्रा कर सकता है, किंतु इस सुविधा का गलत लाभ उठाकर अंतर के निकेतन में बाह्य जगत, जो अस्थायी परिवर्तनशील, क्षणभंगुर है, उसे संग्रह करने में नहीं चूकता। प्रयोजन यह कि स्वाभाविक नियम, नियतिचक्र के अनुसार बाह्य जगत का आस्वादन करने के बाद भी वह उसे सँजोए रखने के लिए अपनी कल्पना, विचार, चिंतन के द्वारा अंतर में संग्रह कर लेता है, किंतु जिस तरह भोजन के ढेर में से अपनी रुचि और भूख का ध्यान न रखकर पदार्थों को उदर में संग्रहीत करने की अमर्यादित चेष्टा मनुष्य के लिए भयंकर पीड़ा, स्वास्थ्य हानि, रुग्णता आदि का कारण बनती है, उसी तरह बाह्य जगत को अंतर में संग्रह करने का प्रयत्न अनेक पाप-तापों का कारण बनता है।

मनुष्य का अंतर आत्मदेव का पुण्य निकेतन है। पावन मंदिर है। उसे बाहर के पदार्थ, प्रयोजन, वस्तुओं को संग्रहीत करने का आगार न बनाया जाए। इस देवस्थान को अपवित्र करने का भयंकर पाप न किया जाए। बाहर की वस्तु बाहर ही रहे, उसे अंतर में ले जाकर स्थायी निकेतन में जमा न किया जाए, अन्यथा मनुष्य की सुख-शांति का, आनंद के स्रोत का, उद्गम ही अवरुद्ध हो जाएगा। फिर बाह्य जगत में सब तरह की संपन्नता, समृद्धि, सामग्री पाकर भी वह असंतुष्ट-अशांत, दुखी, दीन-हीन बना ही रहेगा।

जीवन की एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण साधना है—अपने अंतर का ज्ञान होना। आंतरिक और बाह्य जीवन का विभाग अलग बनाए रखना। दोनों को एक न होने देना। इसका इतना अभ्यास कर लेना आवश्यक है कि हम जब चाहें, तब संसार के बाह्य कोलाहल, आवागमन, संघर्ष, हलचल के बीच भी अपने अंतराल में डुबकी लगा सकें। अंतर के किले में बैठकर पूर्ण सुरक्षा, शांति का अनुभव कर सकें। जिस तरह नारियल का फल अपनी बाह्य सतह पर समस्त संसार के वातावरण, हलचलों से संपर्क बनाए रखता है, किंतु अंतराकाश में वह बाह्य जगत से सर्वथा मुक्त, शांत, गंभीर, स्थिर, नित्यावकाश धारण किए रहता है।

जन्म प्राप्त करने के अनंतर संसार के नाम, रूप, रंग, सज-धज, वस्तु-पदार्थों का संसर्ग, यहाँ के कार्य-कलापों, हलचलों का संपर्क, हमारे जीवन के बाह्य पटल से रहे। संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ, जरा-मरण, यश-अपयश सब क्षणभंगुर हैं। इन्हें महत्त्व न देकर अपने अंतर में आत्मदेव की अजर, अमर, अविनाशी ज्योति का दर्शन सदैव करते रहें। इस तरह आत्मस्थ होने पर कोई समस्या, कोई उलझन, कोई रोग, कोई शोक शेष नहीं रहेगा, क्योंकि नित्य के समक्ष अनित्य का कोई महत्त्व नहीं रहता। अभ्यास द्वारा इस सत्य को जीवन का एक अंग बना लेने पर मनुष्य संसार में रहते हुए भी जीवन मुक्त ही हो जाता है।

आत्मा की पुकार अनसुनी न करें

आज सर्वत्र ज्ञान-विज्ञान की बड़ी लंबी-चौड़ी बातें होती हैं। अटलांटिक से लेकर एशिया, अफ्रीका तथा योरोप आदि का संपूर्ण भूगोल पुस्तकालयों में भरा पड़ा है। पाषाण युग से लेकर आज तक की मानव जाति का इतिहास मनुष्य रटे बैठा है। हजारों, लाखों कार्बनिक एवं अकार्बनिक रसायन तत्त्वों से प्रयोगशालाओं की शीशियाँ भरी पड़ी हैं। कल-कारखानों के बोझ से धरती-आसमान सभी परेशान से नजर आते हैं। जिधर आँख उठाकर देखो, साहित्य, कला, शल्य-चिकित्सा आदि के ढेरों ग्रंथ, अगणित जानकार और असंख्य प्रयोगशालाएँ आज खुली हैं। इन्हें देखते हुए मनुष्य की बौद्धिक क्षमता पर अपार आश्चर्य होता है। समझ में नहीं आता कि आखिर आदमी के दिमाग में कौन-सा जादू है, जो अनेक आश्चर्यजनक उपकरण बनाता चला जाता है।

हजारों मील दूर तक उड़ जाने वाले पक्षियों की क्या मजाल कि एक छोटे-से हवाई जहाज को दौड़ में परास्त कर दें। जलयान निरंतर ही सागर की छाती पर कुहराम मचाते रहते हैं। इन्हें देखकर अन्य जलचर जीवों की क्षमता तुच्छ-सी जान पड़ने लगी है। अपने घर बैठे-बैठे हजारों मील की खबरें जान, समझ एवं देख लेते हैं। आज जैसी प्रकाशन आदि की सुविधाएँ यदि प्राचीन युग में भी संभव रही होतीं, तो शायद उसी समय विश्व साहित्य का निर्माण हो गया होता। खाने-पीने से लेकर चलने-फिरने तक, बोलने, बात करने से लेकर गाने-बजाने तक के जो भी आविष्कार आज मनुष्य ने कर लिए हैं उन्हें देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है कि आखिर मनुष्य में इतनी बड़ी क्षमता का प्रादुर्भाव कहाँ से और कैसे हुआ?

जब एक क्षण इस मशीनी दुनिया से ध्यान हटाकर व्यावहारिक जगत की ओर देखते हैं, साधनों के साथ सुख और शांति की तुलना करने बैठते हैं, तो भारी निराशा होती है। जिस

उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य ने इतनी सारी सुविधाएँ जुटाईं, वह उद्देश्य अभी तक अधूरा पड़ा है। अभी तक इनसान अपनी मंजिल की ओर सही कदम नहीं बढ़ा पाया है। आज एक ओर सभ्यता के विकास का प्रतिपादन किया जाता है, किंतु दूसरी ओर मनुजता आहें भर रही है। नाना आभूषणों, वस्त्रालंकारों से आदमी अपने शरीरं को सजाता है, पर दूसरी ओर वासना की महामारी फैली है। एक ओर आमोद-प्रमोद चलता है, तो दूसरी ओर शोषण-अपहरण की चक्की में आदमी पिसा जा रहा है। शिक्षा-सभ्यता के विकास के लिए हजारें स्कूल खोले जा रहे हैं, किंतु दूसरी ओर वे ही असुरक्षित, उद्घृतता एवं अनाचार का सृजन कर रहे हैं।

इससे अलग एक और संसार या आध्यात्मिक आस्था की दुनिया। मनुष्य सारा जीवन अपने अहंकार के पोषण में ही गँवाता रहता है, पर जब मृत्यु उसके सामने उपस्थित होती है, तो उसे इस आत्मिक संसार का पता चलता है। तब ज्ञान-विज्ञान की लंबी-चौड़ी चौकड़ी भूल जाता है। इस समय पछतावा ही हाथ लगता है। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह जीवन मिला था, वह तो तुच्छ बातों में गँवा दिया गया। सारा-का-सारा जीवन तुच्छ कामनाओं और सांसारिक गोरख धंधों में बिता दिया तो आखिरी समय क्या बन सकता है? मनुष्य भारी दिल लिए हुए इस संसार से रोविदा हो जाता है। यहाँ का सारा वैभव, व्यापार, वस्त्र, आभूषण, स्त्री, पुत्र सब यहीं रह जाता है। साथ में मात्र पश्चात्ताप ही जाता है। महान विजेता सिंकंदर ने अपनी मृत्यु के समय प्रमुख सचिव को बुलाकर एक ही आदेश दिया था—“मृत्यु के बाद मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकालकर रखना, ताकि दर्शक यह जान लें कि सिंकंदर अपने साथ कुछ भी नहीं ले गया। मृत्यु अपने लंबे हाथ राजा-रंक सभी पर फैलाती है। उससे कोई बच नहीं पाता। पर कितने आश्चर्य की बात है कि उससे निरंतर उपेक्षा ही बरती जाती है। लोग आने वाली मृत्यु का कभी विचार तक नहीं करते।”

मनुष्य जितना समय अपनी भौतिक उन्नतियों के लिए लगाता है, उसका आधा भी यदि अपनी आत्मिक प्रगति के लिए लगाता तो अपने जीवनलक्ष्य को जरूर समझ लेता। आध्यात्मिक जीवन के शुभ परिणाम भी उसे मिलते, आत्मा-परमात्मा की संपदाओं से वह वंचित न रहता। पीछे भी ऐसा हुआ है और आगे भी होना संभव है, किंतु यह सब आत्मा की उपेक्षा करते रहने से नहीं होगा। इसके लिए भी अपनी बौद्धिक क्षमता को लगाना पड़ेगा। अपना पुरुषार्थ अर्पित करना पड़ेगा। आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी उतनी ही लगन और तत्परता की आवश्यकता है, जितनी से आज की आश्चर्यजनक भौतिक सफलताएँ मिल सकी हैं। अध्यात्म कोई जादू नहीं, जो छड़ी घुमाते ही सारे सत्यरिणाम उपस्थित कर देता है। इसके लिए भी विधिवत साधना करनी पड़ती है। सुखी जीवन का आधार है—प्रेम, न्याय, अपरिग्रह, सच्चिदता, सौहार्द, सौजन्य और विवेक। इन्हें धारण करने से ही व्यक्ति दूसरी दुनिया अर्थात् आध्यात्मिक जगत में देर तक टिक सकता है। उनका अनुशीलन करने से ही उस महान उद्देश्य की पूर्ति किया जाना संभव है, जिसके लिए मनुष्य का जन्म हुआ है। ‘विश्वानि देव सवितर्दुरितानि’ की भावना बनाएँ, उसी से ही यह संभव है कि आध्यात्मिक दिशा में कुछ प्रगति की जा सके।

मनुष्य ने जितनी प्रगति भौतिक जगत में की है, उससे भी अधिक की संभावना अध्यात्म में है। उसकी स्वचेतना में वह शक्ति भरी पड़ी है, जिसका उत्कर्ष-जागरण किया जा सके, तो इस संसार के सारे वैभव-विलास तुच्छ से लगेंगे। शास्त्रकार ने लिखा है—

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरम् स त्वमेव त्वमेव तत्॥

“सबकी आत्मा परब्रह्म परमात्मा है, जो विश्व से भी बड़ा है तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, वही नित्य तत्त्व है और तुम भी वही हो।” यह आत्मा-परमात्मा की एकरूपता देवज्ञ आप्तपुरुषों ने

स्पष्ट बता दिया। परमात्मा की संज्ञा के साथ जिन शक्तियों का बोध होता है, वे सब बीज रूप से आत्मा में विद्यमान हैं। इतनी महत्वपूर्ण सत्ता का अधिकारी पुरुष इतना महान अवसर प्राप्त करके भी उसकी उपेक्षा करता है, तो इसे उसका दुर्भाग्य ही माना जाएगा।

दुःख और निराशा की परिस्थितियों का निर्माण अपना भौतिकवादी दृष्टिकोण बनाने में होता है। अपने दृष्टिकोण में यदि परिवर्तन कर सके होते, तो आत्मिक जगत का भी ज्ञान अवश्य मिला होता। अपने गुण, कर्म, स्वभाव में सत्य का अनुशीलन किया जाए, तो आध्यात्मिक जगत के सत्परिणामों से भी लाभान्वित हुआ जा सकता है। आत्मा की उपेक्षा करते रहने से भौतिक संपदाएँ कभी भी सुख नहीं दे सकतीं। शाश्वत शांति की प्राप्ति अथवा जीवनलक्ष्य की सिद्धि का एक ही माध्यम है—अध्यात्मवाद। इस पर चल पाना, देर तक टिके रहना तभी संभव है, जब आत्मा के हित की उपेक्षा न करें। उसके महत्व को समझें और उसकी प्राप्ति के लिए आज से, अभी से लग जाएँ।

इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं दिखाई देती जो देर तक टिकती जान पड़ती हो। जो वस्तु आज है वह कल दिखाई भी नहीं देती। आज के पहाड़ इतिहास के पन्नों में किसी समय के सागर अंकित हैं। पेड़ आज खड़ा दिखाई देता है, तो कल उसकी जड़ें तक दिखाई नहीं देतीं। समुद्र की लहरों की भाँति यह जगत बनता-बिगड़ता रहता है। यदि कुछ अमृत है, अविनाशी है तो वह आत्मा है। मनुष्य जन्म का उद्देश्य यही है कि वह आत्मा के माध्यम से चिन्मय परमात्मा की प्राप्ति करे। इसी को जीवनलक्ष्य आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसी की प्राप्ति के लिए ऋषियों ने जोर दिया है। गीताकार ने भी इसी की चर्चा करते हुए लिखा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥—गीता ६.२२

“योगी परमेश्वर की प्राप्ति रूप लाभ से अधिक लाभ कुछ भी नहीं मानता। आत्मा को प्राप्त कर लेने से दुःख चलायमान नहीं करते। इस परमतत्त्व को धारण करने से जाना जाता है, कथन मात्र से नहीं। बाह्य ज्ञान बौद्धिक क्षमता को बढ़ाकर तदजन्य सुख दिला सकता है, पर उससे इंद्रियनिग्रह का सुख प्राप्त करना संभव नहीं। बाह्य ज्ञान मात्र से श्रेयपथ पर नहीं चला जा सकता है। विश्व-कल्याण आत्म-ज्ञान का संपादन अत्यावश्यक है। इसी से मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति संभव है अन्य कोई चारा नहीं।” □

आत्मा की पुकार सुनें और उसे सार्थक करें

पता नहीं, आपने कभी ध्यान दिया या नहीं, अंतर में जब तक एक आवाज उठा करती है कि “अरे, तू यह क्या कर रहा है? क्या इसीलिए तुझे यह सर्व संपन्न शरीर मिला है? उठ अपना स्वरूप, अपनी शक्ति पहचान और उन अच्छे कामों को पूरा कर जिनकी तुझसे अपेक्षा की जा रही है।”

यह पुकार करने वाला और कोई नहीं होता। परमात्मा ही होता है, जो आत्मा रूप में सबके अंदर विद्यमान रहता है। अब जो इस आवाज का आदर करते और जाग उठते हैं, वे संसार में श्रेयस्कर कार्य कर दिखलाते हैं, उनका ईश्वर उनकी पूरी सहायता करता है।

यह आवाज उस समय ही अधिकतर उठा करती है, जब मनुष्य या तो स्वार्थ एवं संकीर्णता की परिसीमा पार करने लगता है अथवा वह काम करता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। अपनी क्षमताओं की तुलना में छोटा काम करते हुए जब कोई शक्तियों का अपमान करता है, तब भी यह आंतरिक आवाज टोका करती है।

इसका एकमात्र आशय यही होता है कि ऐ मेरे अंश मनुष्य ! तू ऐसा काम न कर, जिससे कि तुझे लज्जा अथवा आत्म-ग्लानि हो और न ही कोई छोटे-मोटे काम कर, क्योंकि तू अधिक ऊँचे काम

करने के लिए नियुक्त किया गया है। ये निम्न अथवा हेय कार्य तेरी क्षमता के अनुरूप नहीं हैं।

जो आस्तिक एवं आत्मविश्वासी इस परमात्मा की पुकार को सुनकर प्रेरित होते हैं, अपनी निहित शक्तियों का आद्वान करते और कटिबद्ध होकर दृढ़तापूर्वक कर्तव्यों में तत्पर हो जाते हैं, वे निश्चय ही अपनी वर्तमान स्थिति से बहुत आगे बढ़कर चांद-सितारों की तरह चमक उठते हैं, फिर उनका अभियान आर्थिक हो अथवा आध्यात्मिक। इस परमात्मा की पुकार का तकाजा है कि जो जहाँ पर है, वहाँ पर न रहे, उससे आगे बढ़े और निरंतर आगे बढ़ता ही जाए। मानवीय विकास एवं उन्नति की न तो कोई सीमा है और न ही विराम।

संसार के जितने भी महापुरुष आज जनसाधारण के प्रेरणा केंद्र एवं प्रकाश स्तंभ बने हुए हैं, उन्होंने इस आंतरिक पुकार की कभी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने आवाज सुनी, जागे और तत्काल आयोजन में लग गए, आगे की ओर चल पड़े। ऐसे जाग्रतिवान महान पुरुषों में से अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसीडेंट जार्ज वाशिंगटन भी एक थे।

जार्ज वाशिंगटन अमेरिका के एक साधारण किसान के पुत्र थे। उनके पिता बहुत ही साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। बेटे को हल, फाल, जमीन तथा कुदाल आदि देने के अतिरिक्त उच्च शिक्षा जैसी कोई चीज दे सकने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अतएव वयस्क होने पर उन्होंने जार्ज वाशिंगटन को ये चीजें सौंप दी।

वाशिंगटन भी तो प्रारंभ से लेकर अब तक उसी वातावरण में पला था। उसकी कल्पना भी उन चीजों, उन कार्यों और उस वातावरण के आगे कैसे जा सकती थी? खुशी-खुशी उसने हल लिया और पिता की तरह सामान्य रूप से खेती-बारी में लग गया।

वाशिंगटन किसान बन गया, किंतु उसकी आत्मा उस कार्य में तादात्य अनुभव नहीं कर रही थी। इसलिए नहीं कि खेती कोई निकृष्ट कार्य था, अपितु इस आभास के कारण कि वह उससे भी

ऊँचा कोई काम कर सकता है, जिसमें राष्ट्र अथवा संसार का अधिक हित संपादित हो सके।

उसका आभास प्रकाश बना और वह प्रकाश एक दिन जब वह हल चला रहा था, आवाज बनकर उसके अंतराल में गूँज उठा—“वाशिंगटन क्या कर रहा है? यह खेती का काम तो कोई दूसरा भी कर लेगा। तू जिस उद्देश्य के लिए आया है, उसे याद कर। देख देश की वेदी तुझे अपने उद्धार के लिए आह्वान कर रही है।” हल रुक गया और वाशिंगटन अपने उद्देश्य पथ पर अग्रसर हो उठा। महापुरुषत्व और मानवीय महिमा इसी संदेह रहित आत्म-विश्वास, आस्था, आकस्मिकता एवं साहस के सुंदर शिवालय में निवास करती है।

वाशिंगटन ने आवाज सुनी, जागा और अपने से कह उठा, अवश्य ही मैं बड़ा काम करने के लिए इस संसार में आया हूँ। मैं उसे करूँगा और वह बड़ा काम है—देश को विदेशियों की दासता से मुक्त कराना। संसार का कोई अवरोध, जीवन की कोई भी कठिनाई, पथ का कोई संकट और साधनों का कोई भी अभाव मुझे मेरे अभीष्ट लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकता। उसका संकल्प बलिदान बनकर उसके रोम-रोम में तदरूप हो गया।

प्रयत्न, अध्ययन एवं विचार से प्रारंभ हुआ और तब तक चलता रहा, जब तक पूर्ण एवं परिपक्व होकर क्रियात्मक प्रेरणा में परिणत नहीं हो गया।

अपने इस विकास एवं निर्माण में वाशिंगटन को कितने प्रकार की कठिनाइयों से जूझना पड़ा होगा, इसको बतलाया नहीं जा सकता। केवल इस बात से एक धुँधला-सा आभास ही पाया जा सकता है कि एक दीन-हीन किसान के अनपढ़ पुत्र की स्थिति से राष्ट्रोद्धार की महानता तक के दुरुह पथ को पार करना, अपने अध्यवसाय के बल पर संस्कारों एवं कुप्रवृत्तियों को जीतकर जीवन में ही पुनर्जीवन पा लेने से कम कठिन, साथ ही कम श्रेयस्कर नहीं।

किंतु जिन्हें कुछ करना ही है उनके लिए कष्ट, संकट, श्रम, श्रांति अथवा विश्रांति का क्या अर्थ है? वे यदि कुछ जानते हैं तो काम-काम और निःस्वार्थ काम। वाशिंगटन ने समागत प्रतिकूलताओं का भी सहर्ष स्वागत करते हुए वही किया और एक दिन वह आया जब उन्होंने राष्ट्र के दासता-पाश काट फेंके और राष्ट्र ने उनकी सेवाओं के मूल्यांकन के रूप में, उसके पास जो राष्ट्रपति का सर्वोच्च सम्मान था, वह दिया और आज भी सैकड़ों साल बीत जाने पर उनके नाम, उनकी प्रतिभाओं और उनके स्मारकों को वही सम्मान दिया जाता है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक लक्ष्य होता है। वह यह कि वह जो कुछ है, वही नहीं रहना है, उसे जितना भी हो सके आगे बढ़ना और चढ़ना है। अपनी वर्तमान परिधि से निकलकर अधिक विस्तृत सीमाओं में प्रवेश करना है। एक कक्षा के बाद दूसरी कक्षा पाना ही है। एक स्तर से उठकर दूसरा स्तर पकड़ना ही है और अंत में उसे यह संतोष-लाभ करना ही है कि उसने जीवन को कीड़े-मकोड़ों की तरह एक गढ़े में पड़े-पड़े नष्ट नहीं किया है। उसने उन्नति एवं विकास किया है। आगे बढ़कर चेतन होने का प्रमाण दिया है और अपने इस विश्वास को प्रकट कर दिया है कि यह सुरु दुर्लभ मानव जीवन तृष्णा एवं वासनाओं की वेदी पर वध करने के लिए नहीं, अपितु किसी सदुदेश्य, उच्च आदर्श की पवित्र वेदिका पर फूल की तरह उत्सर्ग कर देने के लिए है।

जिसे अपनी निकृष्ट स्थिति, जीवन का निम्न स्तर काँटे की तरह नहीं चुभती, जिसकी हीनावस्था उसे तिरस्कृत नहीं करती, जो इस लांछन एवं अपमान को यों ही सहन कर लेता है, उसे यदि मृतक मान लिया जाए तो कोई दोष नहीं। जिसमें जरा भी जीवन है, थोड़ा भी मनुष्यत्व है, वह जीवन के इस अपमान, इस लांछन को सहन नहीं कर सकता। उसके हृदय में वेदना होगी, आत्म-ग्लानि होगी और परिस्थितियों को धिक्कार कर, पुरुषार्थ के लिए ललकार

कर उठ खड़ा होगा और अडिग संकल्प के साथ सब कुछ बदलकर रख देगा। संसार में ऐसे ही महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने असंभव माने जाने वाले परिवर्तनों को घटित करके दिखा दिया और उनमें से एक महाकवि कालिदास भी थे।

लोक प्रसिद्ध है कि कालिदास एक वज्र मूर्ख लकड़होरे थे। इतने मूर्ख कि जिस डाल पर बैठते थे उसी को काटते हुए कई बार पथिकों द्वारा उतारे गए। इतने मूर्ख और इतने अज्ञानी कि 'भेड़' कहे और 'भें' कहकर चिढ़ाए जाते। न माँ, न बाप, न कोई भाई-बंधु। यों ही विनोददायक होने से रोटी-लँगोटी मिल जाती थी। अब ऐसे प्रचंड मूर्ख के विषय में क्या कभी यह कल्पना की जा सकती थी कि वह एक दिन प्रकांड पंडित बनकर संसार का कवि-शिरोमणि बनेगा। किंतु कालिदास ने संसार में न केवल इस कल्पना को ही जन्म दिया, वरन् उसे अतिरूप में चरितार्थ करके दिखला दिया। लगन एवं पुरुषार्थ की यही महिमा है।

तत्कालीन विदुषी राजकुमारी विद्योत्तमा से शास्त्रार्थ एवं पांडित्य में पराजित होकर, चिढ़े हुए पंडित लोग दैवात् विद्योत्तमा का विवाह छल से कालिदास से करा देने में सफल हो गए।

कालिदास और विद्योत्तमा का परिचय हुआ, प्रथम क्षण में ही उस विदुषी ने मूर्ख कालिदास को पहचान लिया। उसने 'हाय' करके कपाल पर हाथ मारा और रोते हुए यह कहकर कालिदास को अपने कक्ष से बाहर धकेल दिया कि अपने से महान पति की आकांक्षा रखने वाली मैं तुझ महामूर्ख को पति स्वीकार कर विद्या को अपमानित और आहत नहीं कर सकती। चला जा यहाँ से, मेरे साथ छल किया गया है।

कालिदास को धक्का मिला और उसकी आत्मा में एक झटका लगा। आत्मविभोर कालिदास चौंककर सहसा जाग उठे। उनकी आत्मा में अचेत पड़े मनुष्य की मूर्छा टूट गई। उनका अपमान हुआ, इसकी पीड़ा से उनके प्राणों तक में कसक हो उठी, किंतु

उससे भी अधिक वेदना विद्योत्तमा के उन आँसुओं को देखकर हुई, जिनके पीछे एक उज्ज्वल एवं उच्च दांपत्य जीवन की आकांक्षा तड़प रही थी।

जागरण हो चुका था। कालिदास सोच सके, संभव है यह भारतीय ललना दुबारा विवाह न करे और यों ही इतने महान एवं मूल्यवान जीवन को शोक, संताप एवं पश्चात्ताप में जलाकर नष्ट कर डाले। समाज की इतनी बड़ी क्षति केवल इसलिए हो सकती है कि मैं अशिक्षित एवं असंस्कृत हूँ। कितना निःसर्ग सुख हो, यदि मैं अपने को इसके योग्य बना सकूँ। विचार आते ही अंतराल से आवाज आई, 'क्यों नहीं, पुरुषार्थ एवं संकल्प बल से क्या नहीं हो सकता?' कालिदास चले गए और विद्योत्तमा आँखों में आँसू लिए बैठी रही।

और फिर चार-छह, दस-बारह, अनेकानेक वर्षों तक कालिदास का संबंध संसार की हर बात से टूटकर जुड़ गया अध्ययन में, दिन और रात, संध्या और प्रातः कब आए और कब गए कुछ पता नहीं। इन दशाब्दियों तक यदि कालिदास को कुछ ज्ञात था, तो केवल अपनी एकाग्रता और अध्ययन।

कालिदास ने अध्यवसाय को तपस्या की सीमा में पहुँचाकर जो कुछ पाया, वह लेकर चल दिए। विद्योत्तमा अपने कक्ष में वही वेदना लिए बैठी थी कि सहसा उसने दरवाजे पर थाप के साथ शुद्ध एवं परिमार्जित संस्कृत में सुना—“प्रियतमे! द्वारं कपाटं देहि।” वह उठी, द्वार खोला—देखा—कौन, मैं महामूर्ख कालिदास ! कालिदास मुस्करा उठे। विद्योत्तमा हर्ष विह्वल हो उठी। अब वह मूर्ख कालिदास की पत्नी नहीं, महाकवि कालिदास की प्रेरणादायिनी प्राणेश्वरी थी। दोनों के उस पुनर्मिलन ने कालिदास की साधना और विद्योत्तमा की वेदना सफल एवं सार्थक बना दी।

यह है संकल्पपूर्ण पुरुषार्थ एवं लगन का चमत्कार। जब दीन-से-दीन और मूर्ख-से मूर्ख होने पर भी संसार में लोगों ने सर्वोच्च

स्थितियों पर पदार्पण कर पुरुषार्थ की महिमा को प्रकट कर दिया, तब कोई कारण नहीं कि हम-आप कोई भी अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़कर श्रेय प्राप्त नहीं कर सकते।

आत्म-ज्ञान की आवश्यकता क्यों?

आत्मा को क्यों खोजना चाहिए और उसकी ही जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? इसका उत्तर यही है कि संसार का वास्तविक तत्त्व आत्मा ही है। जो जरा-मरण से रहित शोक से मुक्त, नित्य और अविनाशी है। उसका ज्ञान हो जाने से मनुष्य उसी की भाँति ही भय, शोक, चिंता और मरण धर्म से मुक्त हो जाता है। अजर और अमर होकर संसार के लोगों एवं अनुभवों से ऊपर उठकर चिर अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है। इस नाशवान मानव जीवन की इससे बड़ी और इससे ऊँची उपलब्धि अन्य क्या हो सकती है?

मनुष्य एक ऐसा आनंद प्राप्त करना चाहता है, जो सत्य, अपरिवर्तनशील और अविनाशी हो। संसार के क्षणभंगुर सुखों का उपभोग करने से उसकी यह प्यास पूरी नहीं होती। अपितु इन उपभोगों से उनकी प्यास और भी बढ़ जाती है। उसे अंत में अशांति और असंतोष का भागी बनना पड़ता है। इन्हीं नश्वर और मिथ्या भोगों में आनंद की खोज करता-करता, वह जरा को प्राप्त करता है और फिर मृत्यु को। सारा बहुमूल्य जीवन यों ही व्यर्थ में चला जाता है। इसी अवधि में वांछित आनंद की निधि 'आत्मा' की खोज कर ली जाए, तब न तो जरा का भय रहे और न मृत्यु का। मनुष्य जीवन में भी उस शाश्वत आनंद को पाता रहे और उसके बाद तो वह परमानंदस्वरूप ही हो जाए।

हम सब जीवन में नाना प्रकार की संपत्ति, नाना प्रकार के पदार्थ, ऐश्वर्य, साधन, उपकरण तथा वैभव आदि एकत्र करते हैं। इस संग्रह में निश्चय ही एक उद्देश्य होता है। यह पुरुषार्थ यों ही किसी पागलपन से प्रेरित होकर नहीं किया जाता और न यह सब संस्कार अथवा अभ्यासवश ही किया जाता है। इसके पीछे एक

उद्देश्य, एक मंतव्य रहता है। वह मंतव्य क्या होता है? वह होता है आनंद की खोज। हम सबको यह भ्रम रहता है कि यदि हम किसी भाँति वैभवशाली बन जाएँ, हमारे पास धन-संपत्ति की बहुतायत हो जाए तो हम अवश्य सुखी हो जाएँ। हमारे लिए आनंद की कमी न रहे। किंतु क्या हमारा यह उद्देश्य पूरा हो पाता है? नहीं, निश्चित रूप से नहीं।

यदि धन-संपत्ति और वैभव-विभूति से ही आनंद के उद्देश्य की पूर्ति हो सकी होती, तो इस विशाल संसार में न जाने कितने धन-कुबेर पड़े हैं। ऐसे-ऐसे धनवान इस धराधाम पर मौजूद हैं जिनके धन-वैभव की कोई गणना, कोई परिमाण नहीं है। जिनकी नित्यप्रति करोड़ों की आय है और जिनका आर्थिक साम्राज्य देश-देशांतरों में फैला पड़ा है। वे सभी सुखी और संतुष्ट होने चाहिए थे। पर देखने में ऐसा आता है कि वे भी अन्य जनसाधारण की भाँति ही आनंद के लिए लालायित रहते हैं। उस विपुल वैभव के बीच भी रोते-कलपते और शोक मनाते दृष्टिगोचर होते हैं।

तथापि इस निरर्थकता को देख-सुनकर अनुभव करने के बाद भी मनुष्य इन्हीं वैभवों की ओर ही दौड़ता रहता है। अपने जीवन की लगभग सारी अवधि इन्हीं वंचनाओं की प्राप्ति में लगा देता है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि रात-दिन इन्हीं को लक्ष्य बनाकर जुटे रहने से, इन्हीं के बीच रहने और इन्हीं का चिंतन-व्यवहार करते रहने से इनके साथ मनुष्य की आसक्ति और ममता का भाव जुड़ जाता है। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना गूढ़ हो जाता है कि जीवन का एक अंग ही बन जाता है।

मनुष्य इन्हीं उपकरणों, साधनों और सामग्रियों को ही सर्वस्व मान बैठता है। युग-युग का, जन्म-जन्म का अभ्यास छूटना सरल नहीं होता। वह स्वभाव बन जाता है और तब मनुष्य उसकी निस्सारता और हानियों को जानता-मानता हुआ भी उन्हीं की ओर उत्सुक बना रहता है। दूसरी बात यह कि इस सबसे परे जो अविनाशी और

चिदानन्दमय आत्म-तत्त्व है, उससे उसका परिचय नहीं होता। जिसको वह जानता ही नहीं, उसके प्रति आकर्षित होने का प्रश्न ही नहीं। आकर्षण तो उसी के प्रति होता है, जिसका ज्ञान होता है और जिससे पहचान होती है। सांसारिक वैभव और भोगों से परे भी एक ऐसा सत्य तत्त्व जिसे आनंद का निवास माना गया है—यदि मनुष्य को यह ठीक-ठीक पता चल जाए, तो वह आनंद की प्राप्ति के लिए उसकी ओर भी आकर्षित हो। दो चीजें सामने होने पर ही तो कोई एक को छोड़कर दूसरी या एक के साथ अन्य का भी चुनाव कर सकता है और तब जो उसके लिए अधिक उपयोगी हो, उसे ही ग्रहण कर दूसरी को छोड़ सकता है।

केवल एक सांसारिक वैभव के सामने होने और संभव मानने के कारण मनुष्य उन्हीं को दौड़-दौड़कर पकड़ता है और उन्हीं में आनंद की खोज करने का प्रयत्न करता है। असफल होता है, लेकिन फिर उन्हीं को पकड़ता और फिर असफल होता है। आत्मा का ज्ञान न होने से यह प्रक्रिया उसके लिए एक विवशता बनी हुई है। यदि आत्मा की प्राप्ति हो जाए तो निश्चय ही उसके इस स्वभाव में परिवर्तन हो जाए और तब उसका उद्देश्य भी पूरा हो जाए।

नश्वरता संसार का नियम है। इसकी कोई भी चीज स्थिर अथवा अविनाशी नहीं है। इस नियम के अनुसार उपार्जित किया हुआ वैभव भी संध्या की छाया की तरह नष्ट हो जाता है। आज है, कल नहीं रहता और यदि किसी के पास युक्ति के आधार पर कुछ अधिक समय तक बना भी रहता है, तो उसके नाश हो जाने का भय दुखी बनाता रहता है। भोग-विलास, जिनमें ढूबकर मनुष्य बड़ा आनंद मनाता है, शीघ्र ही मनुष्य को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं।

यौवन के ढलते और जरा के आते ही संसार के भोग दुर्बल हो जाते हैं। उनका झूठा आनंद भी ले सकने योग्य मनुष्य नहीं रह पाता। तब उनका ध्यान शूल की तरह शालता है। यदि मनुष्य प्रारंभ

में ही इनको निस्सार मानकर इनका व्यसन न पाल ले, इनमें आसक्ति न जोड़ ले, तो बहुत हद तक इस मानसिक दुःख से बच सकता है। पर अज्ञान के कारण वह स्वभावतः ऐसा कर नहीं पाता।

मनुष्य आनंद के लिए जिन सांसारिक संपदाओं का आधार लेता है, उनमें आनंद तो क्या पाता है, उलटे उनके वियोग, अस्थिरता और परिवर्तनशीलता के साथ उनके विनाश की संभावना से बेचैन और दुखी रहता है। सारा जीवन इन नष्ट हो जाने वाले पदार्थों को रोकने में ही समाप्त कर देता है और एक दिन स्वयं भी शरीर छोड़कर अनजान दिशा में चला जाता है। जिन पदार्थों को भोला मनुष्य सत्य समझकर पकड़ता है, वे सब स्वप्न की तरह असत्य सिद्ध होते हैं। सांसारिक भोगों में दीखने वाला आनंद कृत्रिम प्रकाश की तरह है और तब जीवन में विषाद का घना अंधकार छा जाता है, जिसमें भटकते हुए ठोकर खाने के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

यही कारण है कि मनीषियों ने सांसारिक सिद्धियों से परे अविनाशी एवं अपरिवर्तनशील आनंद की निधान आत्मा को खोजने और पाने के महत्त्व पर अपना मत दिया है। आत्मा सत्य है, नित्य है, ज्योतिस्वरूप और आनंदमय है। उसको पा लेने पर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता और जान लेने पर कुछ जानना नहीं रहता। मनुष्य के पुरुषार्थ की सार्थकता सांसारिक सुखों के उपकरण और उपादान संचय करने में नहीं है, अपितु आत्मा को प्राप्त करने के प्रयत्न में है।

यह जड़ चेतनमय जितना भी जगत दृष्टिगोचर होता है, इसका अपना अस्तित्व कुछ भी नहीं है। आत्मा के आधार पर ही इसका अस्तित्व निर्भर है। आत्मा ही मानव जीवन का चरम सत्य है। आत्मा के प्रकाश में ही बाह्य संसार और मानव जीवन का अस्तित्व प्रतिभासित होता है। आत्मा के पटल पर ही संसार और दृश्य जीवन का छाया नाटक बनता-बिगड़ता रहता है। संसार और कुछ भी तो

नहीं, केवल आत्मा की अभिव्यक्ति और उसका ही विस्तार है। आत्मा एक चिरंतन सत्य है। इससे पृथक जो कुछ है वह असत्य है, भ्रमपूर्ण है और अग्राह्य है। वेदों ने जिस 'असतो मा सद्गमय, तपसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' का घोष किया है। उसका संकेत सांसारिकता से ऊपर उठकर आत्मा की ओर ही अभियान करने का है, क्योंकि आत्मा ही ज्योति रूप है, शिव रूप है और वही अमृत रूप भी है। निश्चय ही मनुष्य को ऐसी कल्याणकारी आत्मा को पाने का प्रयत्न करते ही रहना चाहिए।

आत्म-जिज्ञासा से रहित जीवन भार स्वरूप ही बना रहता है। आत्म-जिज्ञासा से रहित मनुष्य को भय की कल्पनाएँ और पाप की भावनाएँ कभी चैन से नहीं रहने देतीं। यदि सुखी, शांत और संतुष्ट जीवन बिताने की कामना है, तो जीवन में आत्म-जिज्ञासा को स्थान देना ही होगा, उसकी खोज करनी ही होगी। जितना समय मनुष्य अहंकार के पोषण में लगाता है, सांसारिक उपलब्धियों की लालसा में व्यतीत करता है, यदि उसमें से कुछ समय निकालकर आत्मा की खोज में लगाएँ, तो मंगल मार्ग पर बहुत कुछ आगे बढ़ सकता है।

अहंकार के वशीभूत होकर शारीरिक संतुष्टि तक सीमित रहने वाले अपनी भूल को तब समझ पाते हैं, जब जीवन में पतझड़ का समय आ जाता है और शरीर पीले पत्ते की तरह गिर जाने की स्थिति में होता है। उस पटाक्षेप के समय उसे निश्चय ही संसार की असारता, असत्यता और भंगुरता का ज्ञान और आत्मा की चिरंतनता एवं अविनश्वरता की प्रतीति होती है। तब समय निकल चुका होता है। उस अंतिम समय में कुछ भी कर सकने का अवसर नहीं रहता। उस समय हाथ मल-मलकर पछताने के सिवाय और कुछ भी शेष नहीं रह जाता। उस समय इस पश्चात्ताप के साथ संसार छोड़ने पर विवश होना पड़ता है कि जिस सत्य की खोज के लिए सुरुलर्भ मानव जीवन मिला था, उसकी उपेक्षा कर, हाय, हम संसार की तुच्छ बातों में ही लगे रहे। हमने वह सब कुछ किया, जो नहीं करना

था और वह सब कुछ भी नहीं किया जो कर्तव्य था। उस घड़ी उस आत्मा की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति की क्या दशा होती होगी? उसके हृदय में किस भयानक पछतावे और विवशता की आग जलती होगी, इसे तो वही बतला सकते हैं, जिन्होंने उस स्थिति का भोग किया है अथवा जो आगे चलकर एक दिन करेंगे।

कितना अच्छा हो कि मनुष्य आवश्यकता भर अपने सांसारिक कर्तव्य करता रहे और बाकी का समय अध्यात्म मार्ग से आत्मा की खोज करने में भी लगाता रहे, तो उसके लोक-परलोक एक साथ बनते चलें। इस द्विमुखी साधना में जरा भी कठिनाई नहीं है। आत्म-जिज्ञासु व्यक्ति संसार में रमता हुआ भी उसकी अँधेरी वीथियों में नहीं भटकने पाता। उसकी वह जिज्ञासा उसके साथ रहकर प्रकाश का काम करती रहती है। सांसारिक कर्तव्यों के बाद वह उसको उसी प्रकार मार्ग पर लौटा लाती है, जिसका अनुसरण इस वेद वाक्य को चरितार्थ कर देता है—

“असतो मा सद्गमय”

“तमसो मा ज्योतिर्गमय”

“मृत्योर्माऽमृतं गमय”

और तब मनुष्य का न केवल वर्तमान जीवन अपितु भूत-भविष्यत् के भी सारे जीवन धन्य हो जाते हैं।

आत्म-ज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति संभव है

संसार को दूरदर्शी दार्शनिकों ने दुःखालय की संज्ञा दी है। इस संज्ञा का आधार यही है कि मनुष्य संसार में जन्म लेकर सदा ही किसी-न-किसी प्रकार के दैहिक, दैविक अथवा मानसिक दुःखों से घिरा रहता है। मनुष्य का सारा परिश्रम, पुरुषार्थ एवं प्रयत्न दुःखों से बचने का ही एक उपक्रम है। किंतु जीवन भर प्रयत्न करते रहने पर भी मनुष्य का प्रायः छुटकारा नहीं हो पाता और अंत में वह कष्ट-क्लेशों की मानसिक अथवा शारीरिक स्थिति में ही इस संसार को छोड़ जाता है।

अनेक लोग अभावों को ही दुःख का कारण मानते हैं। संसार में एक-से-एक बढ़कर साधन संपन्न व्यक्ति पड़े हैं, किंतु क्या वे सुखी अथवा संतुष्ट होते हैं? अपने विपुल साधनों के बीच भी वे तरसते-तड़पते और आह-कराह करते नजर आते हैं। जिनको अभाव का दुःख नहीं, उन्हें रोग-दोष आदि के शारीरिक दुःख से पीड़ित देखा जाता है। जिन्हें शारीरिक दुःख नहीं, वे काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष ताप, अनुताप, पश्चात्ताप, तृष्णा अथवा एषणाओं के मानसिक दुःखों से घिरे पाए जाते हैं। ऐसे भी अनेक लोग हो सकते हैं, जिनको शारीरिक, मानसिक अथवा अभावजन्य दुःख न भी हों, तो भी वे अज्ञान के दुःख से पीड़ित पाए जा सकते हैं। यदि एक बार कोई सज्जन अथवा साधु पुरुष इन दुःखों से न भी दुखी हो तब भी उसके आस-पास रहने वाले दुष्ट लोग अकारण ही उसके लिए अप्रिय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। कोई दुर्घटना अथवा आधि-व्याधि ही उनके दुःख का कारण बन सकती है। प्रकृति-वाहित न जाने ऐसे कितने दुःख-क्लेश इस संसार में आते रहते हैं जिनसे अमीर, गरीब, साधु और खल सभी एक समान पीड़ित होते हैं। और कोई दुःख न भी हो तो जन्म, जरा और मृत्यु का दुःख ही क्या कम है?

महात्मा बुद्ध एक राजकुमार थे। उनके जीवन में अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। वे स्वस्थ, सुंदर और सच्चरित्र भी थे, शारीरिक कष्ट का उन्हें कोई अनुभव न होता था। सावधानीपूर्वक उनकी किसी भी इच्छा की पूर्ति की जाती थी। हर प्रकार से हर दशा में उन्हें पूर्ण प्रसन्न एवं संतुष्ट रखने का सफल प्रयत्न किया जाता था। ऐसी स्थिति में मानसिक दुःख का उनके जीवन से कोई संबंध न था। उनकी पत्नी यशोधरा सुंदर, स्वस्थ, पतिव्रता एवं प्रिया थी। उनका पुत्र राहुल मनभावन तथा प्यारा था। तात्पर्य यह है कि राजकुमार सिद्धार्थ को अपनी प्रिय एवं अनुकूल परिस्थितियों में किसी प्रकार का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक अथवा आकस्मिक कोई दुःख न

था। तब भी दुःख की अनुभूति से पीड़ित होकर वे अपनी प्रिय परिस्थितियों को छोड़कर संसार का दुःख दूर करने का उपाय खोजने के लिए साधु हो गए।

राजकुमार सिद्धार्थ केवल एक बार ही अपनी अनुकूल परिस्थितियों तथा प्रिय वातावरण से निकलकर बाहर फैले हुए संसार में आए और एक रोगी, वृद्ध तथा मुरदे को देखकर अनुभव कर लिया कि यह संसार दुःख-दरदों से भरा हुआ दुःखालय है। उनका यह अनुभव सत्य, यथार्थ एवं वास्तविक था। इसने उन्हें इतना कातर कर दिया कि आखिर वे संसार का दुःख दूर करने का उपाय खोजते-खोजते राजकुमार सिद्धार्थ से वैरागी बुद्ध बन गए।

वैदिक, औपनिषदिक, दार्शनिक एवं धार्मिक जितना भी आध्यात्मिक और ज्ञान-विज्ञान आदि का जो भी उच्च साहित्य है, वह सब किसी-न-किसी रूप में उन उपायों एवं सिद्धांतों का ही विस्तार है, जिनके द्वारा मनुष्य दुःख से निवृत्त होकर सुख की ओर अग्रसर हो सके। ऋषियों, मुनियों तथा दार्शनिकों से लेकर जो भी तपस्वी, महात्मा एवं मनीषी, चिंतक तथा विद्वान् हुए हैं उन्होंने सारा जीवन मनुष्य के दुःख दूर करने और सुख पाने के उपाय खोजने में ही लगा दिया है। इन पावन प्रयत्नों एवं महान जीवनों को देखते हुए यही मानना पड़ता है कि यह संसार वास्तव में दुःखालय ही है और दुःख से बचने का प्रयत्न ही मानव जीवन का उपक्रम है।

यह भी माना जा सकता है कि संसार में सुख का भी एक अंश है, जिसका प्रमाण लोगों के हँसने-बोलने, गाने-बजाने, खेलने-कूदने तथा आनंद मनाने से मिलता है। लोग हास-विलास तथा भोग-भाग्यपूर्ण जीवन बिताते भी दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु यह सारे सुख क्षणभंगुर, अस्थायी, परिवर्तनशील एवं दुःख के परिणाम वाले ही हैं। न तो इनमें स्थायित्व ही है और न वास्तविकता। सुखों का यह सारा आयोजन भी एक तरह से दुःख से बचने का उपक्रम मात्र

ही है। संसार में सुखों की अपेक्षा दुःखों का ही बाहुल्य एवं स्थायित्व अधिक है।

संसार में दुःखों का आधिक्य है और मनुष्य को संसार में रहना ही है, तो क्या दुःखों में उलझ-उलझकर उसे अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट कर देना उसका अटल प्रारब्ध है? नहीं, मनुष्य का प्रारब्ध दुःख भोगना नहीं है। उसका लक्ष्य दुःखों पर विजय प्राप्त कर एक स्थायी सुख प्राप्त करना ही है। यही मनुष्य का पुरुषार्थ है और यही उसका श्रेय भी। दुःख से पूर्ण होने के कारण संसार को दुःखालय मानकर कष्ट एवं क्लेशों के बीच तड़प-तड़पकर मर जाना मनुष्य की लज्जास्पद पराजय है। मनुष्यता की शोभा इसी में है कि दुःख से छूटने और सुख प्राप्त करने के लिए अखण्ड पुरुषार्थ किया जाए। मनुष्य को चाहिए कि वह संसार को परीक्षास्थल समझे और इस दुःख सागर को संतरण कर सुख-शांति के सुहावने किनारे पर पहुँचकर अपने को श्रेय का अधिकारी बनाए। जहाँ रोग है, वहाँ उपचार भी, जहाँ उलझने हैं, वहाँ उपाय भी है। जहाँ चाह है, वहाँ राह भी है, जहाँ दुःख है, वहाँ उनसे छूटने का मार्ग भी है। आवश्यकता केवल इतनी है कि मनुष्य के हृदय में सच्ची जिज्ञासा हो। वह अपने उद्देश्य के प्रति निष्ठावान तथा अखण्ड पुरुषार्थ एवं प्रयत्न करने का साहस रखता हो।

भारतीय मनीषियों ने परोपकारार्थ अपना पूरा जीवन तपकर दुःख निवारण के जो अमोघ उपाय खोज निकाले हैं, वे बड़े ही सरल एवं सुखकर हैं। उनका अवलंबन लेकर न जाने कितने लोग इस दुःख-सागर से तरे हैं और तरते रहे हैं। उनके द्वारा खोजे हुए दुःख निवारण के उपाय सार्वभौम एवं सर्वमान्य हैं। उन आध्यात्मिक उपायों का अवलंबन किए बिना न तो आज तक कोई दुःख से निस्तार पा सका है और न पा सकेगा। इसके विपरीत जो बुद्धिमान उन उपायों को काम में लाता है, वह अवश्य ही दुःखों पर विजय पाकर सुख पाता है।

अधिकांश चिंतकों का मत है कि मनुष्य की विषय-तृष्णा ही सारे दुःखों का मूल है। यदि मनुष्य तृष्णा की मरु-मरीचिका में फँसने से अपने को बचा सके, तो निश्चय ही दुःखों से उसका निस्तार हो जाए। संसार में जो कुछ देखा उसी को पाने के लिए लालायित हो उठना और पाए हुए से संतुष्ट न होकर अधिकाधिक पाने की इच्छा करना ही तृष्णा है, जो कभी भी पूरी नहीं होती। पाए हुए से संतुष्ट रहकर यदि अधिकाधिक पाने की अनावश्यक पिपासा को छोड़ दिया जाए, तो मनुष्य अवश्य ही अनेक शारीरिक, सामाजिक दुःखों से बच सकता है।

विषय का अत्यधिक भोग और वस्तुओं में सुख की कल्पना दुःख का एक विशेष हेतु है। यह एक अनुभूत सत्य है कि विषय-भोगों की प्राप्ति अन्य दुःख रूप में सामने आती है। मनुष्य भोगों को कितना ही क्यों न भोगें, तृप्ति नहीं हो सकती। शरीर शिथिल होकर ही नष्ट हो जाता है, किंतु भोगों की वासना ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। विषयों का भोग करने में लवलीन मनुष्य समझता तो यह है कि वह विषयों का भोग कर रहा है, किंतु वास्तव में होता इसके विपरीत है। विषय भोगी को स्वयं ही भोग कर नष्ट कर देते हैं। विषय भोग की अतृप्त तृष्णा के रहते हुए मनुष्य दुःख से मुक्त हो सके, यह संभव नहीं। भोगों को मर्यादा की सीमा तक भोगकर जो मनुष्य उनमें लिप्त नहीं होता और उन्हें दुःखदायी विषय मानकर उनसे विरक्त रहता है, उसे सुखी होने से कोई बाधा रोक नहीं सकती।

संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान है। यहाँ तक कि शरीर भी। ऐसा जानकर जो बुद्धिमान उनके प्रति आसक्ति नहीं रखता, वह दुःख के विशेष हेतु मोहरूपी कटार से बचा रहता है, अन्यथा इनमें आसक्त व्यक्ति इनके क्षीण, क्षय अथवा नाश, वियोग से क्षण-क्षण पर दुखी होता रहेगा। यदि ये वस्तुएँ उसके देखते-देखते नष्ट न भी हों, तब भी उनके नष्ट हो जाने अथवा बिछुड़ जाने की शंका सताया करती है। संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर एवं क्षयमान है, ऐसी बुद्धि

रखकर जो मनीषी उनसे आत्मिक संबंध न रखकर व्यावहारिक संबंध रखता हुआ अनासक्ति का आचरण करता है, संसार की कोई भी हानि उसे दुखी अथवा विचलित नहीं कर सकती है। दुःख असल में वस्तु के विनाश-वियोग से नहीं होता। दुःख का कारण वास्तव में उसके प्रति मनुष्य का वह मोह होता है, जिसे वह अज्ञानवश वस्तु से स्थापित कर लेता है।

महात्मा बुद्ध की खोज के अनुसार दुःखों की निवृत्ति 'निर्वाण' में है। अपने को राग-द्वेष से मुक्त कर लेना ही निर्वाण है, जिसे थोड़े से प्रयत्न द्वारा मनुष्य जीवनकाल में ही पा सकता है। बुद्ध प्रतिपादित निर्वाण अवस्था को वैराग्य द्वारा शुद्धाचरण करते हुए, इस नाशशील संसार के चिरंतन सत्यों में विश्वास रखने से, मनुष्य विषयों की विभीषिका और तृष्णाओं की मरु-मरीचिका से सुरक्षित रहकर दुःखों से निवृत्त हो सकता है।

सांख्य दर्शनिकार ने आत्मा एवं अनात्मा के बीच अंतर न समझने के अज्ञान को दुःखों का कारण बतलाया है। उनका कहना है कि मनुष्य जब अज्ञानवश अपने को शरीर मान लेता है, तभी वह दुःखों का अनुभव करता है। दुःखों का अनुभव करना शरीर का धर्म है। शीत, घास, वर्षा, भूख, प्यास, वियोग, विछोह आदि अप्रिय परिस्थितियाँ शरीर को ही व्यापा करती हैं और वही इनका अनुभव करता है। जब मनुष्य अपनी अनुभूतियों को शरीर तक सीमित कर लेता है अथवा अपने को शरीर मान लेता है, तो स्वाभाविक ही है कि शरीर का कष्ट उसे अपना कष्ट अनुभव हो।

मनुष्य वास्तव में शरीर नहीं है। वह अनादि, अनंत, चैतन्य एवं आनन्दस्वरूप आत्मा है। उसमें अज्ञान अथवा दुष्प्रवृत्तियों का कोई विकार नहीं है। वह निर्विकार, एकरस, चेतन तत्त्व है, जिसको न तो शस्त्र काट सकता है, न पानी गोला कर सकता है, न हवा सुखा सकती है और न अग्नि जला सकती है। वह अपनी ज्योति से स्वयं प्रकाशमान ऐसा शिव एवं शाश्वत दीपक है, जिसको न तो विपरीतताएँ

प्रभावित कर सकती हैं और न काल बुझा सकता है। आत्मा, शरीर, मन, इंद्रियाँ तथा बुद्धि से भिन्न अविनाशी तत्त्व है, जो कि सदा-सर्वदा स्वयं संतुष्ट एवं आनंदित रहता है। उसे सुख के लिए न तो किसी वस्तु की अपेक्षा है और न किसी भोग की आवश्यकता। वह स्वयं ही आनंदस्वरूप एवं शाश्वत है। मनुष्य यही अविचल एवं अविनाशी आत्मा है, शरीर नहीं। अब जो व्यक्ति अज्ञानवश अपने को इस परमपद आत्मा से भिन्न होकर शरीर के निम्नपद पर उतार लाए, तो वह उसकी विकृतियों से त्रस्त होगा ही। मनुष्य अपने को अविकल-अविचल आत्मा समझे, अपने सत्य स्वरूप में विश्वास करे और शरीर को नश्वर संसार का एक अंग मानकर उसके विकल्पनाओं से अप्रभावित रहकर दर्शन के रूप में देखें, तो निश्चय ही वह दुःख के बंधनों से मुक्त होकर सुख का अधिकारी बन सकता है।

वेदांत दर्शन के व्याख्याकार जगद्गुरु शंकर ने दुःखों के निवारण का उपाय मोक्ष बतलाया है। मोक्ष की परिभाषा करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि “इस सत्य ज्ञान की स्थायी अनुभूति ही मोक्षावस्था है कि आत्मा देश-काल से परे, शरीर तथा मन, बुद्धि से विलग स्वभावतः मुक्त, नित्य एवं अविकल्पी है। ऐसी अनुभूति का साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य का शरीर अथवा मन के विकारों से प्रभावित होना समाप्त हो जाता है।”

एक अज्ञात समय से निरंतर शरीर एवं संसार के संसर्ग में रहते-रहते मनुष्य अपने सत्य-स्वरूप आत्मा को ही नहीं भूल गया, अपितु जगत के परम कारण परमात्मा को भी भूल गया है। संसर्गजन्य अविद्या के कारण वह परमात्मा के स्थान पर उसकी माया, इस संसार को ही सत्य समझ बैठा है, जहाँ दुःख के सिवाय उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता।

इस प्रकार यदि मनुष्य अपने सत्यस्वरूप आत्मा में आस्था रखकर संसार में परिव्याप्त कारणभूत परमात्मा को देखे और उसके दिए हुए पदार्थों, विषयों तथा भोगों को मर्यादापूर्वक भोगते हुए भी उससे अप्रभावित रहने के अभ्यास के साथ जीवनयापन करे, तो निश्चय ही उसके सारे

बंधन कट जाएँ और वह अपने जीवनकाल में ही मुक्ति, मोक्ष एवं निर्वाण की चिदानंद स्थिति को पा सकता है। □

सत्यं, शिवं सुंदरम्—हमारा परम लक्ष्य

मनुष्य की रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ उसकी अंतःचेतना की साक्षी होती हैं। वे इस बात का पता देती हैं कि उसकी आत्मा प्रसुप्त है या जागरूक। जागरूक आत्मा का लक्षण है—सत्यं, शिवं और सुंदरम् की ओर उन्मुखता। प्रसुप्त आत्मा का लक्षण है—इसके विपरीत असत्य, अशिव और असुंदर की ओर गतिमानता।

संसार में किसी सुंदर दृश्य, सुंदर स्वरूप और सुंदर गुण को देखकर जिसकी आत्मा प्रसन्न, प्रफुल्ल और उल्लसित हो उठती है, उसमें स्वयं भी उस प्रकार का सौंदर्य अपने में पाने की ललक होती है, तो समझना चाहिए कि उसकी आत्मा में जाग्रति का उन्मेष हो रहा है।

जागरूक आत्मा वाला व्यक्ति प्रकृति की गोद में गाते-खेलते पशु-पक्षियों, कल-कल करते झरनों और नदियों, गगनचुंबी पर्वतमालाओं को देखकर ऐसा आनंद अनुभव करता है मानो यह सब सुंदर प्रसार उसकी आत्मा से ही प्रभावित होकर फैल गया है। वह उसे उसी प्रकार देखता है, जैसे दर्पण में अपना सुंदर प्रतिबिंब। किसी गायक का सुंदर संगीत, कवि की रचना और चित्रकार की कला देखकर आत्मविभोर होकर ऐसा अनुभव करता है मानो वह गीत, वह काव्य और वह आलेखन उसकी अपनी अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ हों, जिन्हें वह स्वयं प्रकट कर स्वयं ही देख और सुन रहा है। जागरूक आत्मा वाले संसार के सारे शिव और सुंदर तत्त्वों से तादात्म्य का अनुभव करते हैं।

इस तादात्म्य का रहस्य यह है कि मनुष्य की आत्मा संपूर्ण सुंदरताओं, कलाओं और श्रेष्ठताओं का भंडार है। आत्मा में निवास करने वाली विशेषताएँ और गुण किसी माध्यम का आधार पाकर बाहर प्रकट होती हैं, किंतु इसका अनुभव होता उसको ही है, जिसकी आत्मा

प्रबुद्ध होती है। प्रसुप्त आत्मा वालों को उसका अनुभव उसी प्रकार नहीं होता, जैसे सोये हुए व्यक्ति को उसकी कलाकृति दिखलाने पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती। यह आत्मा की जागरूकता ही है, जो श्रेष्ठता, देवत्व, कला, सौंदर्य और सदगुणों की अभिरुचि तथा उनके प्रति आनंदमयी अनुभूति को जन्म देती है।

आत्मा में यह विशेषता परमात्मा से अवतरित हुई है। प्रत्येक तत्त्व परमात्मा की प्रेरणा और दिव्य-विधान में जन्मा है। उसके विचार, उसके गुण और उसकी अनुभूतियाँ परमात्म-तत्त्व से ओत-प्रोत रहती हैं और यह सारे तत्त्व आत्मा में संकलित रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य परमात्मा का अंश है। उसमें परमात्मा के वे सब गुण होने उसी प्रकार स्वाभाविक हैं, जिस प्रकार बूँद में सागर की विशेषताएँ। मनुष्य भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक संपदाओं से युक्त है। यह दूसरी बात है कि उसके अवगुणों और अपकर्मों के कारण उसकी आत्मा जागरण से वंचित हो और वह अपनी इन संपदाओं का अनुभव न कर पाए।

यदि आपकी अभिरुचि और प्रवृत्ति शिव और सुंदर की ओर है तो समझ लेना चाहिए कि आपकी आत्मा में जागरूकता का लक्षण है। आपको अवसर है कि आप अपने इस आत्म-जागरण को सद्प्रयत्नों द्वारा विकसित करें, आगे बढ़ाएँ, जिससे आप निरंतर परमात्मा की ओर अग्रसर होते जाएँ और शीघ्र ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को पा लें। आत्मा की विशेषताओं की साक्षी के आधार पर यह विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है कि आपका वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द ही है।

जो व्यक्ति, असुंदर, अशिव, अपकर्मों और अपवित्रताओं में अरुचि न रखकर उनमें विशेषता देखता है—जैसे किसी के व्यसनों से प्रभावित होता है, किसी अपराधी के प्रति सहानुभूति रखता है, लोभी और स्वार्थी की नीति में चतुरता देखता है, डाकू, चोर और अत्याचारियों की कथाओं में रुचि लेता है, अदर्शनीय दृश्य देखने को

उत्सुक होता है और पापियों की संगति से घृणा नहीं करता, तो मानना चाहिए कि उसकी आत्मा प्रसुप्त है और वह सृष्टि के सारे सुख-सौंदर्य से बंचित हो गया है। जेलों, अस्पतालों और पागलखानों में दीखने वाली मानव आकृतियाँ वे मनुष्य होते हैं, जिनकी आत्मा सोई होती है और इसी प्रसुप्ति के दोष से वे उन जगहों पर पहुँचे हैं।

आत्मा की प्रसुप्ति का कारण है—मनुष्य का अज्ञान। उसका यह न जानना कि वह क्या है, संसार में आया क्यों है और उसका लक्ष्य क्या है? यदि वह इन तीनों बातों का ज्ञान संचय कर ले, तो निश्चय ही उसकी आत्मा में जागरण की स्थिति पैदा हो जाए। इन तीनों प्रश्नों का उत्तर कोई गोपनीय रहस्य नहीं है। इनका उत्तर बिलकुल सीधा, सरल, एक और अंतिम है। मनुष्य परमात्मा का अंश, उसका पुत्र और प्रतिनिधि है। संसार में आनंद की खोज करने, उसको पाने और उसी क्रम में अपने को पहचानकर अपने लक्ष्य सच्चिदानंद स्वरूप को पा लेने के लिए आया है।

अपने इस व्यक्तित्व, कर्तव्य और उद्देश्य की ओर से अज्ञानी, रहने के कारण वह वासनाओं, तृष्णाओं, एषणाओं, मरीचिकाओं, कुरूपताओं और अमंगलों में अपनी चेतना को फँसाते रहकर आत्म-जागरण की ओर से विमुख और अनात्म पदार्थों में विभोर रहता है। विषयों में सुख खोजना, पदार्थों में आसक्ति बढ़ाना, माया से मोहित होना और कामनाओं का पालन करना उसका स्वभाव बन जाता है। ऐसी विपरीतता में उसकी आत्मा का मोह निद्रा में मूर्च्छित पड़ा रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जिसकी आत्मा सोती है, वह मानो स्वयं सोता है। आत्म-प्रबोधन से रहित मनुष्य का अभौतिक जागरण संसार स्वरूप में निमग्नता के सिवाय और कुछ नहीं है। संसार में आकर संसार को पाने का कांक्षी कृपण सांसारिकता के सिवाय सच्चिदानंद स्वरूप को किस प्रकार पा सकता है? नश्वरता के उपासक को अमृतत्व मिल सकना संभव नहीं।

यदि आपको अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों में कुरुपता, कुत्सा और कलुष-उन्मुखता का आभास मिले, तो समझ लेना चाहिए कि आपकी आत्मा सोई हुई है और साथ ही यह भी मान लेना चाहिए कि यह एक बड़ा दुर्भाग्य है, एक प्रचंड हानि है। इतना ही क्यों, वरन् तुरंत उसे दूर करने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए। यदि आप प्रमादवश जिस स्थिति में हैं और उसमें ही पड़े रहना चाहेंगे, तो निश्चय ही अपनी ऐसी क्षति करेंगे, जो युग-युग तक जन्म-जन्मांतरों तक पूरी नहीं हो सकती।

आत्मोन्मेषों के उपायों में आपको अपनी तुच्छताओं, क्षुद्रताओं तथा वासनाओं को त्यागना होगा। दुराचरण, दुर्विचार और दुष्कल्पनाओं को छोड़कर उन्नत, उदात्त और आदर्श रीति-नीति को ग्रहण करना होगा। अपने मनोविकारों और निषेधों को त्यागकर शिव और सुंदर की साधना में लगना होगा। निश्चय ही वह एक साधना है, तप है, किंतु ऐसा तप नहीं है, जो मनुष्य के लिए दुष्कर हो। इस तप की साधना के लिए पुनरपि आत्मा की ओर ही परिवृत होना होगा, क्योंकि आत्मा ही उन सब शक्तियों और साहसों का केंद्र है, उक्त साधना में जिसकी आवश्यकता है। मनुष्य की आत्मा ही उसका सबसे सच्चा मित्र और पथ प्रदर्शक है। उसी की प्रेरणा से मनुष्य सन्मार्ग, पवित्र प्रवृत्तियों और दिव्य गुणों की ओर अग्रसर होता है। अपनी आत्मा में विश्वास करिए और उसे अपने में अधिष्ठित वह परमात्मा ही समझिए, जिसके लिए कहा गया है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माद्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

“वह एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ है। सर्वव्यापक है और समस्त प्राणियों का अंतर्यामी परमात्मा है। वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, संपूर्ण भूतों का निवास, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप एवं सबको चेतना प्रदान करने वाला, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है।” (श्वेता० ६.११)

ऐसा सशक्त और उच्च आधार पकड़ लेने पर मनुष्य में पुण्य परिवर्तन न हो ऐसा संभव नहीं।

हम सब मनुष्य हैं। परमात्मा के पावन अंश हैं। हमारा मार्ग पवित्रता और हमारा लक्ष्य दिव्यता ही होना चाहिए। कलुष और कुत्सा हमारे अनुरूप नहीं। दुर्गुण हमारे व्यक्तित्व पर कलंक के समान हैं। वासनाएँ और व्यसन, तृष्णाएँ और मरीचिकाएँ हमसे अधिन्म नहीं हो सकतीं। हम आत्मावान मनुष्यों का निकृष्ट कामनाओं और विकृत वांछाओं से क्या संबंध? यह सारे विचार आत्मा को सुला देने वाले, उसे मूर्च्छित कर देने वाले विष ही हैं। हम सब शुद्ध-बुद्ध और निरंजन रूप हैं, संसार और उसकी माया हम सबके लिए वर्जित है। हम सबको मोह का, अज्ञान का त्याग कर संसार स्वप्न से जागकर अपना स्वरूप पहचानना और पाना है। यह महत् कार्य इस प्रसीमित जीवन में तभी पूरा हो सकता है, जब हम इसका प्रत्येक अणु क्षण अपने उसी दिव्य उद्देश्य के लिए नियोजित कर दें। अमरत्व पाने वाले की इच्छा रखने वाले के पास नश्वर भोगों की उपासना करने के लिए समय कहाँ?

हमें अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों के दर्पण में अपनी उन्मुखता पहचाननी होगी और देखना होगा कि हम किस ओर, किस मार्ग पर जा रहे हैं? यदि हमारी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ शिव-सौंदर्य प्रिय हैं तो हमारी आत्मा में उन्मेष का लक्षण है, क्योंकि हरियाली की छटा उसी धरातल पर प्रकट होती है, पेड़, पौधे और लता-गुल्म उसी भूमि पर उत्पन्न होते हैं, जिसके नीचे पानी होता है। सत्यं-शिवं-सुंदरम् की अनुभूति और अभिरुचि उसी की होती है, जिसकी आत्मा में जागरण होता है। यदि ऐसा है, तो हमारी दिशा ठीक है। सावधानीपूर्वक उस पर चलते चला जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति को कलुष एवं कुत्सा की ओर, पाप और अपराध की ओर, असभ्यता तथा अपकर्मों की ओर झुकता

पाते हैं, तो तुरंत सतर्क होकर दुरितों से संघर्ष छेड़ देना चाहिए और तब तक संघर्ष को बंद नहीं करना चाहिए, जब तक हमारी रुचियाँ और हमारी प्रवृत्तियाँ शिवोन्मुखी होकर यह न बतला दें कि आपकी आत्मा में जागरण प्रारंभ हो गया है।

पापों के सारे पिशाच आपको छोड़कर भाग गए हैं और अब दिव्यताओं एवं महानताओं के स्वागत की तैयारी कीजिए। अपने नव प्रशस्त पथ पर उस आत्म-विश्वास के साथ चलकर लक्ष्य की ओर उसी प्रकार बढ़ते जाइए, जैसे कोई सुकृती अधिकारपूर्वक स्वर्गीय मार्ग पर गर्वोन्नत मस्तक से निश्चित चला जाता है। हम मनुष्यों के लिए यही योग्य है, यही कल्याणपूर्ण कर्तव्य है।



शक्ति के स्रोत—आत्मा को मानिए

हमारे पूर्वज ज्ञान-विज्ञान में आज के वैज्ञानिकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रवीण थे, किंतु वे समझते थे कि विज्ञान अंततोगत्वा मनुष्य की वृत्तियों को पाश्विक, भोगवादी ही बनाता है। अतः उन्होंने धर्म और अध्यात्म पर आधारित जीवन की रचना की थी। उस जीवन में प्राण था, शक्ति थी, समुन्नति थी और वह सब कुछ था, जिससे मनुष्य का जीवन पूर्ण सुखी, स्वस्थ और संतुष्ट कहा जा सकता है।

आत्मा को ही सब कुछ मानकर अनित्य के प्रति वैराग्यमूलक मनोवृत्ति धारण कर लेने की शिक्षा देना हमारा उद्देश्य भले ही न हो, किंतु भौतिक सुख और इंद्रियों की पराधीनता भी मनुष्य जीवन के लिए नितांत उपयोगी नहीं कहे जा सकते। आत्म-ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि उससे सांसारिक विषयों में स्वामित्व और नियंत्रण की शक्ति आती है। भौतिक सुखों के रथ की उन घोड़ों से तुलना की जा सकती है, जिनमें यदि आत्म-ज्ञान की लगाम न लगी हो, तो वे सवार समेत रथ को किसी विनाश के गङ्गड़े में ही ले जा पटकेंगे। जगत की सत्ता से विच्छिन्न मनुष्य की सत्ता परिच्छिन्न

मात्र नहीं है। वह केवल व्यष्टि ही नहीं, वरन् समष्टि भी है। उसमें अनंत सत्यं, शिवं और सौंदर्य समाहित है। उसे जाने बिना मनुष्य के बाह्यांतरिक कोई भी प्रयोजन पूरे नहीं होते। आत्म-ज्ञान इसीलिए मनुष्य जीवन का प्रमुख लक्ष्य है।

शरीर के संपूर्ण अंग-प्रत्यंगों की स्थूल जानकारी, पदार्थ और उसके गुण भेद की जानकारी, ग्रह-नक्षत्रों से संबंधित गणित और उनके वैज्ञानिक तथ्य जानने से मनुष्य की सुविधाएँ भले ही बढ़ गई हों, पर उसने अपने आप का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, यही दुःख का प्रधान कारण है। मनुष्य शरीर ही नहीं, वरन् परिस्थितियाँ बताती हैं कि वह कुछ अन्य वस्तु भी है, आत्मा है। इस आत्मा या 'अहंभाव' का ज्ञान प्राप्त किए बिना दुनिया का सारा ज्ञान-विज्ञान अधूरा है। बिना इंजन लगी हुई मोटर की तरह ज्ञान किसी तरह का लाभ नहीं दे सकता।

आत्मा शक्ति का अनादि स्रोत है। शौर्य, प्रेम और पौरुष की अनंत शक्ति उसमें भरी हुई है। अतः आत्म-ज्ञान में लगाए हुए समय, श्रम और साधनों को निरर्थक नहीं बताया जा सकता। आत्म-शक्ति को पाकर मनुष्य के सारे अभाव, दुःख, दारिद्र्य, सांसारिक आधि-व्याधियाँ समाप्त हो जाती हैं। भगवान् कृष्ण ने आत्मज्ञानी पुरुष को ही सच्चा ज्ञानी बताते हुए कहा है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

—गीता १५। १०.

"हे अर्जुन ! उस आत्मा को छोड़कर जाते हुए, शरीर में स्थित विषयों को भोगते हुए अथवा तीनों गुणों से युक्त होते हुए भी अज्ञानी लोग नहीं जानते। उस तत्त्व रूप आत्मा को केवल ज्ञानी ही जानते हैं।"

मनुष्य शरीर नहीं वरन् वह शरीर का संचालक है। वह मन भी नहीं क्योंकि मन को प्रेरणा देकर, आदेश देकर किसी भी अच्छे-बुरे कर्म में लगाया जाता है। सत्-असत् का ज्ञान देने वाली बुद्धि को भी

आत्मा कैसे मानें? विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि पञ्चभूतों के सत-रज अंश को लेकर बने हैं। पञ्चभूत जड़ पदार्थ है। अतः आत्मा इनसे भी विलक्षण और शक्तिवान है। वह संचालक है, सूक्ष्मतम है और शक्ति का उत्पादक है। अजर, अमर, सर्वव्यापी तत्त्व है। जो इस तत्त्व को जानता है उसके सारे दुःख मिट जाते हैं।

मानव जगत का अधिकांश भाग इस कारण अधोगति को प्राप्त हो रहा है कि उसे जो कार्य संपादन करना चाहिए, वह नहीं करता। सबसे बड़े दुःख की बात तो यही है कि पूर्ण परिपक्व और बुद्धिमान होकर भी उस मार्ग का अनुसरण नहीं करते, जो कल्याणकारी है और जो जीवन में सुख की वृद्धि कर सकता है। थोड़े-से मोह के चक्र में फँसकर नासमझ लोग अयोग्य कार्यों की ओर प्रेरित होते हैं और उन्हें ही सुख का मूल समझकर अपने भीतर सिमटी-दुबकी हुई जो आत्मा बैठी है उसे भूल जाते हैं। इसी ऐश्वर्य और भोग में जीवन की इतिश्री कर देते हैं। कभी गहराई में उत्तरकर आत्म-तत्त्व पर विचार नहीं करते। मनुष्य की उस विडंबना को, इस मूढ़ता को क्या कहें जो बड़ा ज्ञानी होने का दावा करता है, पर जानता खुद को भी नहीं है।

सारांश यह है कि जड़ पदार्थों के संबंध में आज लोगों ने जहाँ खूब उन्नति की है, वहाँ चेतन पदार्थों के संबंध में वह अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है। विज्ञान ने भौतिक एवं मानसिक जगत को रूपांतरित कर दिया है। इसका प्रभाव मनुष्य पर गंभीर रूप से पड़ा है, क्योंकि आज जो भी कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं, उनमें मनुष्य की मूल प्रकृति पर विचार नहीं किया जाता, यही कारण है कि भौतिक विज्ञान तथा रसायन शास्त्र ने परंपरागत जीवन प्रणाली में विक्षिप्त रूप से परिवर्तन ला दिया है। मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति की कसौटी पर ही विषयों का चयन किया जाता तो अधिक बुद्धिमत्ता रहती। आत्म-ज्ञान ही वह प्रक्रिया है, जिससे इस समस्या का हल निकाला जा सकता है।

बाहर की वस्तुओं का ही अवलोकन न कीजिए, यह भी सोचिए कि शरीर के भीतर कैसी विचित्र हलचल चल रही है। आहार पेट में जाता है, फिर न जाने कैसे रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, वीर्य आदि सप्त धातुओं में परिणत हो जाता है। कितनी हानिकारक वस्तुओं का भक्षण करते हुए मनुष्य जीवित रहता है। वह कौन-सा विलक्षण अमृत तत्त्व है जो शरीर जैसी महत्वपूर्ण मशीनरी को चला रहा है। आप इसे जान जाएँगे, तो सारे संसार को जान जाएँगे। उस आत्मा में ही यह संपूर्ण विश्व व्यवस्थित है। ब्रह्मोपनिषद् के छठवें अध्याय में शास्त्रकार ने बताया है—

आत्मनोऽन्या गतिनास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ।

आत्मनोऽन्यन्हि क्वापि आत्मनोऽन्यन्तृणं न हि ॥

—ब्रह्मोपनिषद् ६ ४६

“आत्मा से भिन्न गति नहीं है, सब जगत् आत्मामय है, आत्मा के विलग कुछ भी नहीं है। आत्मा से भिन्न एक तिनका भी नहीं है।”

विश्वव्यापी चैतन्य अनादि तत्त्व आत्मा को जाने बिना मनुष्य को शांति और स्थिरता की उपलब्धि नहीं हो सकती। सफल जीवन जीने के अभिलाषी को इस पर बार-बार विचार करना चाहिए। प्राचीन धर्मग्रंथ, सृष्टि और अध्यात्म की खोज करनी चाहिए। अपने आप को पहचानने के लिए अपनी आत्मा, मनोवृत्तियाँ, स्वभाव तथा विचारों का निरीक्षण करना चाहिए। आत्म-भाव जाग्रत् करने के लिए सुंदर पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिए।

आत्मा के साथ जन्म-मरण, सुख-दुःख, भोग-रोग आदि की जो अनेक विलक्षणताएँ विद्यमान हैं, वह मनुष्य को यह सोचने के लिए विवश करती हैं कि खा-पीकर, इंद्रियों के भोग भोगकर दिन पूरे कर लेना मात्र जिंदगी का उद्देश्य नहीं है। रूप और शारीरिक सौंदर्य की झिलमिल में शरीर और प्राण के अनुपम संयोग की स्थिति को दूषित किया जाना किसी भी तरह भला नहीं है। यह अमूल्य

मानव जीवन पाकर भी यदि आत्म-कल्प्याण न किया जा सका तो न जाने कितने वर्षों तक फिर अनेक कष्टसाध्य योनियों में भटकना पड़ेगा। जिसे ऐसी बुद्धि मिल जाए उसे अपने आप को परमात्मा का कृपापात्र ही समझना चाहिए। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य जीवन धन्य हो जाता है।

मनुष्य दैवी अंशयुक्त है। सत्, चित्, आनंद स्वरूप है। निष्फलता, दुःख, रोग-शोक तो निम्न विचारों, दूषित कल्पनाओं तथा भोगवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप पैदा होते हैं, अन्यथा इन अभावों का इस जीवन में क्या प्रयोजन? अपने अमृतत्व की खोज करने के लिए काम, क्रोध, भय, लोभ, तिरस्कार, शंका तथा दुविधाओं की कीचड़ से निकलकर हमें सत्य, प्रेम, निश्छलता और पवित्रता का आदर्श अपनाना पड़ेगा। उत्कृष्ट, स्वस्थ तथा दिव्य विचारों का वर्णन करना होगा। आत्मा अत्यंत विशाल और शक्तिशाली है, उसे प्राप्त करने के लिए, उसमें विलय होने के लिए हमें भी उतना ही निर्मल हितकारक तथा विस्तृत बनना होगा। जिस दिन ऐसी स्थिति बना लेंगे उस दिन किसी तरह की कमी महसूस नहीं होगी। सारा जीवन शक्ति और सौंदर्य से भर जाएगा। उसे प्राप्त करने पर ही हमारा जीवन सफल होता है। हम अपने भीतर छिपी हुई आत्मा को ढूँढ़ने का प्रयास करें, तब कुछ प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी तलाश में हमें निरंतर भटकना और जिसके अभाव में सदा दुःखी रहना पड़ता है।



आत्मा को जानिए

मनुष्य पाप, बुद्धापे, मृत्यु, भूख, प्यास की चिंता तथा भय के कारण अनेक संकल्प-विकल्प के उत्पन्न होने वाले शोक, उद्विग्नता आदि से जीवन के सहज स्वाभाविक सुख और उपलब्धियों का भी लाभ नहीं उठा पाता। सुर दुर्लभ मानव जीवन को भार, अभिशाप मानकर जीता है। भय की कुकल्पनाएँ उसे चैन से नहीं सोने देती हैं और न सुखी जीवन बिताने देती हैं। इन सबसे छुटकारा पाकर

जीवन को सुखी व मधुर बनाने की खोज मनुष्य सदा से ही करता आया है। उपनिषद्‌कार ने इसी को महत्त्व देते हुए कहा है—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको
विजिघत्सोऽपिपासाः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्ट्यः स
विजिज्ञासितव्य । —छान्दो० ८.७.१

“जो निष्पाप, जरा रहित, अमर्त्य, शोक रहित, भूख-प्यास से मुक्त, सत्य काम, सत्य संकल्प है, उसे ही ढूँढ़ना चाहिए उसे ही जानने की इच्छा करनी चाहिए और वह तत्त्व है—आत्मा।”

वस्तुतः आत्मा ही जग-मरण, भूख-प्यास, समस्त भय संदेह, संकल्प-विकल्पों से रहित नित्य मुक्त, अजर-अमर-अविनाशी तत्त्व है। उसे जान लेने पर ही मनुष्य समस्त, भय, शोक, चिंता, क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

आत्मा सर्वव्यापी नित्य तत्त्व है। आत्मा ही मानव जीवन का मूल सत्य है। आत्मा के प्रकाश में ही बाह्य संसार और मानव जीवन के कार्य-कलापों का अस्तित्व है। आत्मा के पटल पर ही संसार और दृश्य जीवन का छाया-नाटक बनता-बिगड़ता रहता है। संसार जो कुछ भी है, वह आत्मा की अभिव्यक्ति और उसका विस्तार है। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् ।
स ईक्षत लोकानु सृजा इति । —ऐतरेयो० १.१.१

पूर्व में केवल एकमात्र आत्मा ही था अन्य कोई तत्त्व नहीं था। उस आत्मा में से ही अनेक लोकों का सृजन हुआ। छांदोग्योपनिषद् (७.२५.२) में लिखा है—आत्मैवेदं सर्वम्। आत्मा ही यह सब है। आत्मा के धरातल पर ही दृश्य जगत् के घरोंदे बनते-बिगड़ते रहते हैं। सृजन और संहार का चक्र चलता रहता है। किंतु यह आत्म-तत्त्व अपने नित्य स्वरूप में स्थिर रहता है सदा-सदा। अनंत आकाश के मध्य ग्रह-नक्षत्रों का क्रिया-कलाप चालू रहता है। अनेक उल्काएँ-नक्षत्र बनते-बिगड़ते रहते हैं, किंतु आकाश अपने गुरु गंभीर अविचल स्वरूप में नित्य ही स्थित रहता है। इसी तरह सर्वत्र व्याप्त आत्म-तत्त्व

के मध्य पदार्थों का सूजन और विनाश होता रहता है किंतु आत्म-तत्त्व पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह सदा-सर्वदा नित्य है।

सर्वव्यापी विराट् आत्मसत्ता ही ब्रह्म है। “अयम् आत्मा ब्रह्म” (बृ० ३०) यह आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा उपनिषद्कार ने अपनी अनुभूति के आधार पर कहा है। आत्मा ही परमात्मा है—ईश्वर है। आत्म-तत्त्व जब जगत्, देह, इंद्रिय तथा संसार के पदार्थों को प्रकाशित करता है, तो अनेक रूपों में दिखाई देता है। जिस तरह जल की बूँदें समुद्र पर गिरते समय अलग-अलग दिखाई देती हैं, किंतु गिरने से पूर्व और गिरने पर वह अथाह सिंधु के रूप में ही होती है। आत्मा भी आदि-अंत में हमेशा ही स्थिर रहने वाला नित्य तत्त्व है। जो विराट् है, भूमा है—“यो वै भूमा।”

आत्म-प्रबोध उपनिषद् (१९) में लिखा है—

घटावभासको भानुर्धटनाशेन नश्यति ।

देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ॥

“जिस तरह घड़े को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है, उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता।”

सूर्य का प्रकाश विभिन्न घड़ों में पड़ते समय अलग-अलग सा जान पड़ता है। लेकिन सूर्य अखंडित ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा भी विभिन्न देह-पदार्थों को प्रकाशित करते हुए खंड-खंड नहीं होता। अथाह धरती के धरातल पर बच्चे मिट्टी के छोटे-छोटे अनेक घरोंदे बनाते हैं, बिगड़ते हैं। मूर्तिकार अनेक मूर्तियाँ बनाता है, फिर वे समय पर नष्ट भी हो जाती हैं। इस पर भी आदि-अंत में मिट्टी, धरती अपने नित्य स्वरूप में ही स्थिर रहती है। ठीक इसी तरह आत्मा के पटल पर संसार और उसके पदार्थों का बनना-बिगड़ना जारी रहता है, किंतु आत्म-तत्त्व अपने नित्य स्वरूप से स्थिर रहता है।

इस तरह मानव जीवन, समस्त संसार और पदार्थों की मूलसत्ता, सर्वव्यापी आत्म-तत्त्व को जान लेने पर मनुष्य जीवन में होने वाले

विभिन्न परिवर्तन, सृजन और विनाश, लाभ-हानि, सुख-दुःख, भय-शोक आदि से मुक्त हो जाता है। उसके समस्त पाप-ताप, विकृतियाँ तिरोहित हो जाते हैं। आत्मविद् होकर, आत्मस्थित होकर मनुष्य सुख-शांति, आनंद की सहजावस्था प्राप्त कर लेता है। आत्मा की सत्यता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य स्वतः ही संसार और इसके पदार्थों से अलिप्त-निस्पृह बन जाता है। वस्तुतः संसार और इसके पदार्थों को जीवन का सत्य मानने वाले ही विभिन्न उपायों से पदार्थ, उपकरण आदि संग्रह करते हैं। इसके लिए एक-दूसरे का अहित, शोषण, नाश करने में भी नहीं चूकते। पदार्थों की चकाचौंध में परस्पर टकराकर, दिन-रात अशांति, क्लेश, उट्टिग्रन्ता के भागी बनते हैं, लेकिन आत्मविद् संसार और इसके पदार्थों की क्षणभंगुरता, अनित्यता को जानकर आत्मा के स्वभाव अनुसार दिव्य कर्म, दिव्य गुणों से युक्त हो स्वर्गीय जीवन बिताता है। वह पदार्थों की मोहक गंध पर गिर्दों की तरह नहीं टूटता न किसी से लड़ता है।

देह, इंद्रियाँ और सांसारिक पदार्थों को महत्त्व देने पर ही जीव में विभिन्न राग-द्वेष की आशा, अभिलाषाओं का चक्र चलता है। जब मनुष्य इससे ऊपर उठकर आत्मा के व्यापक विराट् स्वरूप में स्थित होता है, तो पदार्थों की तुच्छता, देह इंद्रिय की अनित्यता-क्षणभंगुरता का ज्ञान हो जाता है, तब फिर वह अमूल्य मानव जीवन को इन तुच्छ बातों में नष्ट नहीं करता और इसी के साथ उसके समस्त दुःख-द्वंद्व तिरोहित हो जाते हैं।

सर्वत्र आत्मा के स्वरूपों को देखने वाले आत्मविद् के अंतर से विश्वप्रेम की सुरसरि बह निकलती है। सत्य, प्रेम आदि आत्मा के गुण-धर्म हैं। जिस अंतर में ये पुण्य धाराएँ बहती रहती हैं, जिससे आनंद, शांति, तोष प्राप्त होता है, उसे अनुभवी ही जानते हैं। सभी को आत्ममय देखने वाला व्यक्ति सबको प्रेम करेगा। सबसे प्रेम, सबकी सेवा, सबमें आनंद की अनुभूति आत्मविद् के स्वभाव का अंग बन जाती है।

आत्मा का ज्ञान मनुष्य को जरा-मरण के भय से मुक्त करता है। वस्तुतः जरा और मृत्यु का भय, चिंता इतनी भयावह होती है कि इससे मनुष्य का जीवन सत्त्व तेजी के साथ नष्ट होने लगता है। भय की प्रबल प्रतिक्रियाओं से लोग अचानक मरते देखे जाते हैं। लेकिन सब भयों में, खासकर सबसे बड़े मृत्यु-भय का उच्छेद आत्म-ज्ञान से तत्क्षण ही हो जाता है। क्योंकि आत्मा जरा-मरण के बन्धनों से मुक्त है। कठोपनिषद् में आत्म द्रष्टा ऋषि ने कहा है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं

कुतश्चिन्नं बभूव कश्चित्—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,

न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —कठो० १.२.१८

यह नित्य चैतन्यस्थ आत्मा न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न तो यह कभी पैदा हुआ और न इससे कोई पैदा हुआ। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, चिरंतन है। शरीरों के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता। आत्मा अक्षय अजर-अमर नित्य तत्त्व है, जो चिरंतन होने से जन्म-मृत्यु से परे है।

इस तरह आत्मा को अजर-अमर, अविनाशी तथा चिरंतन सत्ता का ज्ञान-बोध हो जाने पर मनुष्य जरा, मरण एवं अन्य सभी प्रकार के भयों से मुक्त हो जाता है। आत्मविद् के लिए मृत्यु एक वस्त्र बदलने जैसी प्रक्रिया मात्र है। आवश्यकता पड़ने पर वह हँसते-हँसते मौत का आलिंगन करने में भी नहीं चूकता। क्योंकि इससे उसका शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं।

इसलिए जीवन में परितोष की प्राप्ति के लिए, सत्य, प्रेम, आनंद की व्यापक अनुभूति के लिए, जीवन के सत्य की प्राप्ति के लिए सर्व ओर से निर्भय, निर्द्वंद्व, निश्चित बनने के लिए, आत्म-तत्त्व में प्रवेश पाने, उसे जीतने, उसे स्थिर रहने के लिए नित्य ही प्रयत्न करना आवश्यक है। □

आत्म-शक्ति का अकूत भंडार

संसार की रचना छोटे-छोटे परमाणुओं से मिलकर हुई है। जड़ और चेतन परमाणुओं के विचित्र संयोग से ही यह संसार गतिमान हो रहा है। जड़ परमाणुओं की शोध बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की सबसे बड़ी देन है। कहते हैं जब परमाणु-शक्ति का पूर्णरूपेण उपयोग होने लगेगा, तब मनुष्य के लिए इस विश्व में कुछ भी असंभव न रहेगा। वह स्वेच्छापूर्वक ग्रह-नक्षत्रों में ऐसे ही विचरण कर सकेगा, जैसे इस पृथ्वी में एक गाँव से दूसरे गाँव को चले जाते हैं। यह शक्ति कितनी बड़ी होगी, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

जिस परमाणु की शक्ति और महत्ता इतनी बढ़-चढ़कर है, वह इतनी सूक्ष्म वस्तु है कि उसे बड़ी-से-बड़ी खुर्दबीन लगाकर भी देख पाना संभव न हुआ। केवल उसकी प्रतिक्रियाओं के आधार पर उसका नामांकन हुआ है। पदार्थ का सबसे छोटा टुकड़ा जिसके और अधिक अंश न हो सकें, वह 'अणु' कहलाता है। इस अणु में भी 'न्यूक्लियस' या केंद्र पिंड और इसके किनारे अंडाकार कक्षा में गति करता हुआ 'इलेक्ट्रॉन' स्थिर न्यूट्रॉन और प्रोटॉन से मिलकर बना हुआ परमाणु होता है, जिसको हम देख भी नहीं सकते। उस एक परमाणु का जब विस्फोट होता है, तो आइंस्टाइन के 'मासकनवर्जन' सिद्धांत के अनुसार ३३ लाख किलो कैलोरी ताप पैदा होता है। यह शक्ति एक विशाल भू-भाग को जलाकर खाक कर देने में पूर्णतया समर्थ है। अभी तो उस पर अनेक खोजें और भी होनी शेष हैं।

प्रत्येक पदार्थ इन छोटे-छोटे परमाणुओं से मिलकर बना है। मिट्टी के छोटे-छोटे कणों का वृहत्स्वरूप यह पृथ्वी है, समुद्र का आधार पानी की एक छोटी-सी बूँद है, विशाल वट-वृक्ष का निर्माण उसके बीज के एक बहुत छोटे अंश से होता है। परमाणु एक प्रकार से इस संपूर्ण ब्रह्मांड का नक्शा है, जो कुछ शक्तियाँ इस सृष्टि में दिखाई देती हैं, वे सब बीज रूप में एक परमाणु में विद्यमान हैं। इस शक्ति की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

जड़ परमाणु की इतनी सामर्थ्य देखकर आश्चर्य होता है, परं चेतन अणु की शक्ति उससे भी अधिक है। जड़ पदार्थ स्वाधीन नहीं होते, उनकी अपनी कोई इच्छाशक्ति नहीं होती, किंतु चेतना शक्ति स्वच्छंद है। वह पदार्थ पर शासन करती है, शासित से शासक की शक्ति अधिक होना भी चाहिए। जड़ से चेतना का महत्त्व अधिक है, उसे जानकर ही मनुष्य के वास्तविक प्रयोजन की सिद्धि होती है।

आत्मा को विश्व-चेतना का परमाणु ही समझना चाहिए। पदार्थ के परमाणु की शक्ति का हिसाब लगा चुकने पर उससे आत्म-शक्ति की तुलना कर सकते हैं।

संसार में जो कुछ चल रहा है, उसका स्रष्टा परमात्मा अनंत शक्तिशाली है। इस विश्व में उसी का यह सब खेल चल रहा है। परम शक्तिशाली परमात्मा की शक्ति हमारी अंतरात्मा में उसी तरह समाई हुई है, जिस तरह वृक्ष की संभावना उसके बीज में होती है। उपनिषद्कार के कथन से इस आत्म-शक्ति का परिचय मिलता है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः-

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः-

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥—श्वेताश्वतरो० ६.११

अर्थात्—“वह परमात्मा ही संपूर्ण प्राणियों में आत्मरूप में विद्यमान है। वह सर्वव्यापक है, सर्वात्यामी है, वही कर्मों का अधिष्ठाता है, संपूर्ण भूतों का निवास, सबका साक्षी, चेतना-स्वरूप और सबको जीवन देने वाला परम पवित्र और गुणातीत भी है।”

सारे संसार में जो शक्ति परमात्मा की है। मनुष्य देह में वह सारी योग्यताएँ जीवात्मा को उपलब्ध हैं। ये शक्तियाँ हमारी अपनी हैं, किंतु अज्ञानवश हम उन्हें भूल चुके हैं। देह अर्थात् पदार्थ के सुखों में आसक्ति हो जाने के कारण आत्मा की सूक्ष्म सत्ता की ओर हमारा ध्यान भी आकृष्ट नहीं होता। यही हमारे दुःखों का कारण है। आत्म-हीनता का कारण मनुष्य की आत्म-अज्ञानता ही है।

आत्म-ज्ञान के मूल में वह शक्ति, वह सामर्थ्य और विशेषताएँ सन्निहित हैं कि उन्हें यदि जाग्रत कर लिया जाए, तो मनुष्य अपने आप में महामानव, देवत्व तथा परमात्मा की सी शक्ति अनुभव कर सकता है। आत्मा वह कल्पतरु है, जिसकी छाया में बैठने से कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रहती।

महापुरुषों के जीवन को फूल के समान खिला हुआ, सिंह की तरह अभय, सदगुणों से ओत-प्रोत देखते हैं, तो स्वयं भी वैसा होने की आकांक्षा जागती है। आत्मा की यह आध्यात्मिक माँग है, उसे अपनी विशेषताएँ प्राप्त किए बिना सुख नहीं होता। लौकिक कामनाओं में डूबे रहकर हम इस मूल आकांक्षा पर परदा डाले हुए पड़े रहते हैं, इससे किसी भी तरह जीवनलक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।

श्रेष्ठता मनुष्य की आत्मा है। इसलिए जहाँ कहीं भी उसे श्रेष्ठता के दर्शन मिलते हैं, वहीं आकुलता पैदा होती है। मोर के पंखों की-सी सुंदरता पाने को हर कोई लालायित रहता है। किसी कवि की परिपूर्ण कविता पढ़कर ऐसा लगता है, काश ! हम भी ऐसा ही लिख पाते। पक्षियों को आकाश में उड़ता हुआ देखकर लगता है, अपनी इच्छानुसार स्वच्छंद आकाश में विचरण करने की सामर्थ्य मिली होती, तो कितना अच्छा होता ! ये अभिलाषाएँ जागती तो हैं, किंतु यह विचार नहीं करते कि यह आकांक्षा आ कहाँ से रही है, आत्म-केंद्र की ओर आपकी रुचि जाग्रत हो तो आपको भी अपनी महानता जगाने का श्रेय मिल सकता है, क्योंकि लौकिक पदार्थों में जो आकर्षण दिखाई देता है, वह आत्मा के प्रभाव के कारण ही है। आत्मा की समीपता प्राप्त कर लेने पर ये सारी विशेषताएँ स्वतः मिल जाती हैं, जिनके लिए मनुष्य जीवन में इतनी सारी तड़पन मची रहती है। सत्य, प्रेम, धर्म, न्याय, शील, साहस, स्नेह, दृढ़ता-उत्साह, स्फूर्ति, विद्वता, योग्यता, त्याग, तप और नैतिक सदगुणों की चारित्रिक विशेषताओं के समाचार और दृश्य हमें रोमांचित करते हैं, क्योंकि ये

अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। इन्हों का अभ्यास डालने से आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है।

आत्म-ज्ञान का संपादन और आत्म-केंद्र में स्थिर रहना मनुष्य मात्र का पहला और प्रधान कर्तव्य है। आत्मा का ज्ञान चरित्र के विकास से मिलता है। अपनी बुराइयों को छोड़कर सम्मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा इसी से दी जाती है कि आत्मा का आभास मिलने लगे। आत्मसिद्धि का एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है। इन सद्गुणों का विकास न हुआ, तो आत्मा की विभूतियाँ मलिनताओं में दबी हुई पड़ी रहेंगी।

बुराइयाँ आत्मा को प्रिय नहीं हैं। आप जब किसी चोर या डाकू को सजा पाते हुए देखते हैं, तो आपको भय प्राप्त होता है, तुरंत जी में आता है कि कहीं हम भी चोरी न करने लग जाएँ। कसाई को जानवर काटते देखकर, शिकारी को पक्षियों को मारने की हिंसात्मक क्रिया देखकर दुःख होता है। दुष्टता और राक्षसी प्रवृत्ति से दूर भागने का प्रयास सभी करते हैं। अनीति, अत्याचार, अन्याय, आततायीपन, द्वेष, त्रुटि, कुरुपता, चोरी, ठगी आदि के क्षण, संस्मरण तथा घटनाएँ बड़ी अप्रिय लगती हैं। यह अपनी मूल स्थिति के अनुरूप होता है। आत्मा कभी निकृष्ट होना नहीं चाहती, क्योंकि उत्कृष्टता उसका सहज स्वभाव है। भय उसे इसलिए पसंद नहीं है कि वह चिरअभय है। कुरुपता इसलिए अप्रिय है कि आत्मा का सौंदर्य बड़ा मोहक है। यह स्थिति प्राप्त न होने तक छटपटाहट अवश्य रहेगी। असंतुष्ट होना यह व्यक्त करता है कि अभी तक आपको निजत्व का ज्ञान नहीं मिला है।

देवत्व हमारी आवश्यकता है, दुष्प्रवृत्तियों से भय लगता है। पवित्रता हमें प्रिय है। अपवित्रता से दुःख मिलता है। निश्छलता से सुख मिलता है। छल और कपट के कारण जो संकीर्ण स्वभाव बनता है, उससे अपमान मिलता है। जो कुछ श्रेष्ठ है, सार्थक है, वही आत्मा है और उसी को प्राप्त करना, मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य

है। जब तक इस बात को समझ नहीं लेते, कोई भी समस्या हल नहीं होती।

श्रेष्ठता से सुख मिलता है, यह सच है। इसे प्राप्त करना ही जीवनलक्ष्य है, इसे भी मानते हैं, तो सन्मार्ग और सत्प्रवृत्तियों द्वारा अपने देवत्व को जगाना पड़ेगा। प्रत्येक गुण का अमृतकुण्ड हमारी आत्मा में है, इसलिए अपने आत्म-भाव का परिष्कार करना पड़ेगा। आत्मीयता की भावना उठती है, तो उच्च प्रवृत्तियों का प्रकाश हमारे जीवन में लहराने लगता है।

यह जाग्रति प्रत्येक अवस्था में अभीष्ट है। यह संसार स्वप्न की तरह है। जिस प्रकार जागने पर स्वप्न मिथ्या प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर लौकिक कामनाएँ झूठी मालूम पड़ने लगती हैं। अभी जो अपनी शक्तियों का लौकिक संघर्षों में अपव्यय करना पड़ता है, उसे यदि पतनकारी दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर सद्गुणों के रचनात्मक कार्य में लगाएँ, तो शक्तियों का सदुपयोग भी होता है और आत्मा के अकूत शक्ति भंडार का अधिकार भी मिलने लगता है।

संसार में जो कुछ भी विभूतियाँ एवं श्रेष्ठताएँ हैं उन सबमें अपना आत्म-तत्त्व ही प्रवाहित हो रहा है। सत्, चित्, आनंदस्वरूप आत्मा ही संपूर्ण श्रेष्ठता और साँदर्य का स्रोत है। जन्म और मरण का, निर्माण एवं विश्वास का जो विश्वव्यापी खेल चल रहा है, वह विश्व-आत्मा की शक्ति का प्रतीक है। यह शक्तिपुंज हमारे भीतर भरा पड़ा है। जब तक हम उससे विमुख रहकर लौकिक कामनाओं में ढूबे रहते हैं, तब तक बड़े दीन-दुखी बने और दरिद्रता से घिरे रहते हैं, किंतु जब पारमार्थिक जीवन की उमंग आती है, तो हमारी शक्तियों का स्रोत भी उमड़ पड़ता है। तब हमारा जीवन विशाल, आनंदमय और शक्तिसंपन्न बन जाता है। □

शक्ति का स्रोत हमारे अंदर है

आज जैसी भी कुछ हमारी स्थिति है, वह सब हमारी मानसिक स्थिति का परिणाम है। मन कर्ता है। संसार की संपूर्ण वाह्य रचना

की शक्ति और आधार मन है। हमारा आहार, रहन-सहन, चाल-चलन, व्यवहार-विचार, शिक्षा-समुन्नति ये सारी बातें हमारी मानसिक दशा के अनुरूप ही होती हैं। जैसा कुछ चिंतन करते हैं, विचार करते हैं, वैसे ही क्रिया-कलाप भी होते हैं और तदनुसार वैसे ही अच्छे-बुरे कर्म भी बन पड़ते हैं। सुख और दुःख, बंधन और मुक्ति चूँकि इन्हीं कर्मों का परिणाम है, इसलिए हमारे उद्धार और पतन का कारण भी हमारा मन ही है।

कोई भी बड़ा कार्य, श्रेष्ठ सत्कर्म या उन्नति करनी हो, तो उसके अनुरूप मानसिक शक्ति की ही आग्रहना करनी पड़ेगी। मन की शक्तियों को यत्नपूर्वक उस दिशा में प्रवृत्त करना पड़ेगा, जो लोग यह कहते रहते हैं कि 'क्या करें, हमारा तो मन ही नहीं मानता।' उन्हें यह जानना चाहिए कि मानसिक शक्तियाँ सर्वथा स्वच्छंद नहीं हैं। मन इच्छाशक्ति के अधीन है। इच्छाओं के आकार-प्रकार पर उसकी क्रियाशक्ति संभावित है। एक व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेता है, दूसरा निम्न कक्षाओं से ही अध्ययन छोड़ बैठता है। एक धनी है, दूसरा निर्धन; एक डाक्टर है, दूसरा वकील; जिसकी जो स्थिति है, वह उसकी इच्छा के फलस्वरूप ही है। यदि किसी को अनिच्छापूर्वक किसी स्थिति में रहना पड़ रहा है, तो इससे एक ही अर्थ निकाला जाएगा कि उस व्यक्ति ने इच्छाओं के अनुरूप कार्य-शक्ति में मन को प्रयुक्त नहीं किया। जिसकी मानसिक शक्तियाँ विश्रृंखलित रहेंगी, वह न तो कोई सफलता ही प्राप्त कर सकेगा और न ही उसकी कोई इच्छा पूर्ण होगी।

असफलता या दुर्भाग्य केवल मनोबल की कमी का ही परिणाम है। यत्न करते हुए थोड़ी-सी परेशानी ही प्रयत्न से विचलित कर देने के लिए काफी होती है। थोड़ी-सा शारीरिक दबाव, धन-हानि, व्यापार में घाटा, शिक्षा में अनुत्तीर्णता जैसी निराशाजनक घटनाएँ आईं कि प्रयत्न छोड़ बैठे। यह घटिया मनोबल का लक्षण है कि मनुष्य अल्प श्रम से अधिक परिणाम प्राप्त करना चाहे। इच्छाओं का

आकार-प्रकार जितना बढ़ा है, उतने ही बड़े प्रयत्नों की अपेक्षा की जाती है। यदि उतने प्रयत्न न किए जा सके, तो सफलता संदिग्ध ही बनी रहेगी।

विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करने की दृष्टि से अध्ययन करते हैं। फीस के लिए पैसे जुटाते हैं, समय लगाते हैं, सभी शारीरिक सुख त्यागकर अध्ययन में लगे रहते हैं। कदाचित परीक्षा में ऐसा कोई विद्यार्थी फेल ही हो जाए, तो यह नहीं समझना चाहिए कि अपना श्रम, धन और समय व्यर्थ चला गया। परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाणपत्र नहीं मिला—यह बात महत्वपूर्ण नहीं है। मन के महत्व का प्रश्न है। महत्व इस बात का है कि उस शिक्षा से बौद्धिक बल बढ़ा, विचारशक्ति आई और अनेक उलझनों को सुलझाने की महत्वपूर्ण सामर्थ्य प्राप्त हुई या नहीं? प्रमाणपत्र इन्हीं बातों की गारंटी का ही नाम तो है, जो यदि न भी मिले तो यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा प्रयत्न निष्फल चला गया।

परिस्थितियाँ यदि प्रतिकूल हैं तो भी साधनों का उपयोग करते रहना चाहिए। थोड़ी-सी पूँजी से बढ़कर उच्च स्तर के व्यापार तक पहुँचा जा सकता है, किंतु मानसिक शक्ति अपने साथ बनी रहनी चाहिए। कार्य करते समय ऊबे नहीं और उत्तेजित भी न हों। यह समझ लें कि हमें तो लक्ष्य तक पहुँचना है, जितनी बार गिरो, उतनी बार उठो। एक बार गिरने से उसका कारण मालूम पड़ जाएगा, तो दोबारा उधर से सावधान हो जाओगे। यह स्थिति निरंतर रहे, तो अनेक बाधाओं के रहते हुए भी अपने लिए उन्नति का मार्ग निकाला जा सकता है। हार मन के हारने से होती है। मन यदि बलवान है, तो इच्छापूर्ति भी अधिक सुनिश्चित समझनी चाहिए।

आज यदि स्थिति ठीक नहीं है, तो भविष्य में भी वह ऐसी ही बनी रहेगी, ऐसा कमजोर बनाने वाला विचार अपने मस्तिष्क से निकाल दें। श्रेष्ठता अंदर सुप्तावस्था में पड़ी हुई है। इसमें संशय नहीं कि हम हर आवश्यकता अपने आप पूरी कर सकते हैं, पर

इसके लिए सतत अध्यास की आवश्यकता है। अपना उद्योग बंद न करें। अकर्मण्यता और आलस्य का, अधीरता और प्रयत्नहीनता का साथ छोड़कर “यत्न देवो भव” की उपासना आरंभ कर दोगे तो पुरुषार्थ का देवता ही अपने लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देगा। काम करने में शिथिलता व्यक्त न करें। ढिलाई न करें। चिंतित न हों। आत्म-विश्वास न खोओ। धैर्य के साथ ‘यत्न’ देव का आश्रय पकड़े रहें, तो यह निश्चय है कि आज की यह दीन-हीन अवस्था कल श्री-संपन्न अवस्था में बदलकर रहेगी।

ऊँचे-से-ऊँची इमारत की नींव भी नीचे ही रखी होती है। ऊँचे उठने का शुभारंभ निचली पृष्ठभूमि से किया जाता है। निर्धन धन-कुबेर होते हैं, पहलवान कोई माँ के पेट से बनकर नहीं आता। उसके लिए तो विधिवत उपासना करनी पड़ती है।

यह ठीक है कि आज अपनी दशा अच्छी नहीं, कोई विशेष गुण भी दिखाई नहीं देता, फिर भी निराशा का कोई कारण नहीं। एक शक्ति अभी भी अपने पास है और वह अंत तक पास रहेगी। यह है मन। मन की शक्ति को संपादन करने का तरीका जानने का प्रयत्न करें। छोटे-छोटे कामों में मनोयोग का प्रयोग किया करें। एक दिन मनोबल इतना बढ़ जाएगा कि ऊँचे-से-ऊँचा कार्य करने में भी हिचक-पटक नहीं होगी और उत्साहपूर्वक, दृढ़तापूर्वक सफलता की मंजिलें पार करते हुए आगे बढ़ सकेंगे। श्रेष्ठताएँ अंदर छिपी पड़ी हैं, उनका समर्थन और अभिवर्द्धन करें, दूसरों की ओर देखें कि वे किस तरह आगे बढ़े हैं? दूसरों से उदाहरण लें कि उन्होंने कैसे सफलताएँ पाई हैं? बिना हाथ-पाँव डुलाए किसी के भाग्य-देवता ने साथ नहीं दिया। चुपचाप बैठे रहेंगे, तो उन्नति का अवसर पास से गुजरकर चला जाएगा, आपको केवल हाथ मसलकर रह जाना पड़ेगा।

आत्म-संयम करें, इससे बिखरा हुआ मानसिक संस्थान जगेगा। निश्चेष्ट मनुष्य इसलिए होता है कि उसकी शक्तियाँ इधर-उधर

बिखरी हुई होती हैं। मामूली-सी शक्ति से कोई काम भी नहीं बनता। बिखरी हुई सूर्य की किरणें सारे शरीर पर असंख्य मात्रा में गिरती हैं, तो भी उससे कुछ विशेष हलचल उत्पन्न नहीं होती, पर यदि एक-डेढ़ इंच जगह की किरणों को आतिशी शीशे से एक जगह पर एकत्रित कर दिया जाए, तो इससे दावानल का रूप धारण कर एकता की क्षमता से संपन्न आग पैदा हो जाएगी। हम अपनी शक्तियों को इधर-उधर के बेकार के कार्यों में खरच करते रहते हैं, जिससे जीवन में कोई विशेषता नहीं बन पाती। आत्म-संयम से बिखरी हुई शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर अभीष्ट परिणाम के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती हैं। मन की सूक्ष्म शक्तियों का जागरण आत्म-संयम से होता है।

किसी समय भारतवर्ष ने मन की शक्तियों का संपादन करके अनेक आश्चर्यजनक शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। एकाग्रता के अभ्यास द्वारा ये संभावनाएँ अब भी जाग्रत की जा सकती हैं। इसके लिए अपने को गति देने की आवश्यकता है। जी-तोड़ परिश्रम करने की आवश्यकता है, प्रयत्न-पर-प्रयत्न करने की जरूरत है। हमारे भीतर जो सिद्धियाँ बिखरी हुई पड़ी हैं, उन्हें कार्यक्षेत्र में लगाने भर की देर है, बस हमारी यह विषम परिस्थितियाँ अधिक दिनों तक ठहरने वाली नहीं हैं।

उन्नति के लिए चाहे कितने ही व्यक्ति सहानुभूति व्यक्त क्यों न करें, पर यह निर्विवाद है कि हमारा इससे कुछ काम न चलेगा। हमें अपनी स्थिति स्वयं सुधारनी होगी। स्वयं कठिनाइयों से लड़कर नया निर्माण करना पड़ेगा। विश्रृंखलित शक्तियों को जुटाकर आगे बढ़ने का कार्यक्रम बनाना पड़ेगा। यह बात यदि समझ में आ जाए, तो सफलता की आधी मंजिल तय कर ली, ऐसा समझना चाहिए। शेष आधे के लिए मनोबल जुटाकर यत्नपूर्वक आगे बढ़िए, आपका सौभाग्य आपके मंगल मिलन के लिए प्रतीक्षा कर रहा है, स्वागत के लिए आगे खड़ा है।



सच्चे हृदय से आत्मा का उद्बोधन करे

आत्मा के उद्धार के लिए शास्त्रों और उपनिषदों में काफी साधन और ज्ञान पड़ा हुआ है, किंतु साहित्य का स्वाध्याय कर लेने, उसका ज्ञान बढ़ाकर उपदेश कर लेने से किसी को आत्म-साक्षात्कार नहीं हो जाता। गीताकार का स्पष्ट निर्देश है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ —मुण्डको० ३.२.३

“यह आत्मा बहुत उपदेश कर लेने से नहीं मिल जाता। बहुत ज्ञान और शास्त्रों के सुन लेने से भी वह प्राप्त नहीं होता। वह आत्मा को वरण करने से ही जाना जा सकता है।”

आत्मा सत्य है, शाश्वत और नित्य है, शक्ति का स्वरूप है। पर जब तक वह सांसारिक आत्म-कल्पनाओं से विमुक्त नहीं हो जाती, वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं हो सकती। शास्त्रों का, सत्साहित्य का स्वाध्याय और ज्ञान-संवर्द्धन भी इस कार्य में सहायक है, पर केवल ज्ञान की प्राप्ति ही पर्याप्त नहीं है। बुद्धिमान लोग ज्ञान का दुरुपयोग करते हुए भी देखे जाते हैं। ज्ञान के द्वारा यदि आत्म-लाभ संभव रहा होता, तो अनेक पाश्चात्य दार्शनिक बहुत ज्ञानवान हुए हैं। वे सब आत्मज्ञानी रहे होते और यदि इन देशों में थोड़े भी आत्मज्ञानी रहे होते, तो आज उनकी दशा ही भिन्न होती। भौतिक दृष्टि से समृद्ध बनकर भी बुराइयों का जाल फैलाकर और उपदेश देकर तब न दूसरों के लिए अभिशाप बनते, वरन् स्वयं भी आध्यात्मिक सुखों का रसास्वादन कर रहे होते।

औरों को उपदेश करने की अपेक्षा अपना उपदेश आप कर लिया जाए, औरों को ज्ञान देने की अपेक्षा स्वयं के ज्ञान को परिपक्व कर लिया जाए, दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने को ही सुधार लिया जाए, तो अपना भी भला हो सकता है और दूसरे लोगों को भी

कर्मजनित प्रेरणा देकर प्रभावित किया जा सकता है। लोग यह कम देखते हैं कि आप कहते क्या हैं? उपदेशक की वार्ता का नहीं, उसके व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव अधिक होता है।

आत्म-ज्ञान की परिपक्वता और गुणों के विकास के लिए आत्म-संबोधन का महत्त्व है। सच्चे हृदय से आत्मा का उद्बोधन होता रहे, तो मनुष्य अनेक बुराइयों से बचा रह सकता है और आत्म-कल्याण के मार्ग में निष्ठापूर्वक आरूढ़ बना रह सकता है। ईश्वर-भक्ति भी दरअसल आत्म-उद्बोधन का विकसित रूप ही है, जो विचार की अपेक्षा अधिक सरल है। किसी भी विषय को लेकर उसकी गहराई में तन्मय हो जाना और नए-नए तथ्यों की खोज कर लेना सामान्य व्यक्तियों के लिए बहुत कठिन है। कोई थोड़े ही ज्ञानवान्, निष्ठावान् व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो विचाररत रहकर किन्हीं सिद्धांतों का प्रतिपादन कर पाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में विचार आत्म-निर्माण में भी बड़ा सहायक होता है, पर जब किसी के लिए यह स्थिति संभव न हो, तो उसे भावनाओं का आश्रय तो लेना चाहिए। परमात्मा के गुणों का रूप, आकृति, दया-करुणा, उदारता और रक्षा आदि के कार्यों का अपने आप मनन, भजन अथवा कीर्तन करना ही भावना का प्रतीक है। अपेक्षाकृत यह अधिक सरल प्रतिक्रिया है और इस मार्ग द्वारा भी अपने आप को सत्य से उस समय तक जोड़े रखा जा सकता है, जब तक सत्य-सिद्धि न हो जाए अथवा फिर कभी बुराइयों की ओर आकृष्ट हो जाने का भय शेष न रहे।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए जो महत्त्व ईश्वर को उद्बोधन करने का है, आत्म-ज्ञान के मुमुक्षुओं के लिए आत्मा के उद्बोधन का भी वही महत्त्व है। जिस प्रकार भगवान् का भक्त यह कहता है—“हे ईश्वर ! तू सर्वव्यापक है, विश्व नियंता और सबको धारण करने वाला तू ही है, तूने ही इस सृष्टि की रचना की, आकाश बनाया, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, फल, फूल और तरह-तरह के जीव

बनाए हैं। तू परम दयालु है, पर ममता रहित है, तेरे वश में संपूर्ण लोकपाल और दिक्पाल है, फिर भी तू अहंकार रहित है।” इस प्रकार की भावनाएँ भक्त की भावनाओं को जीवन प्रदान करती हैं, उसकी ईश्वरनिष्ठा बढ़ती है और वह बुरे विचारों से बचता हुआ, निरंतर कल्याण की ओर अग्रसर होता रहता है।

यह उद्बोधन सच्चे हृदय से आत्मा के लिए किया जाए, तो आत्मा भी अपनी संपूर्ण विशिष्टताएँ हम पर प्रकाशित करता है और इस प्रकार आत्म-भावना की पुष्टि भी होती रहती है। ऐसी भावनाएँ साधना-काल में, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते, काम करते हर समय की जा सकती हैं। आत्म-शोधन का यह अनुपम और पूरा मनोवैज्ञानिक तरीका है।

“ऐ आत्मा ! तू अपनी ओर देख, तेरी शक्तियों और सामर्थ्यों का क्या ठिकाना ? तू अनंत है, महान है, कण-कण में तू ही तो समाया हुआ है। जीव-जंतुओं में, कलरव करते हुए पक्षियों में, लहलहाते हुए खेतों में, महकते हुए फूलों में, धरती-आकाश, जल-थल, सर्वत्र तू ही तू विराजमान है। तेरी ही आत्मा फैल रही है। देख अपने इस विराट स्वरूप को तो देख। इसे देखकर तू आनंद से भर जाएगा।”

“ऐ जीव ! तू शुद्ध और सौंदर्य युक्त है, फिर भी धिक्कार है तुझे, जो इन तुच्छ विषय-भोगों की ओर आकर्षित हो रहा है। उनकी स्थिति क्या है, इस पर कभी विचार किया है ? यह तरह-तरह के भोज्य पदार्थ, जिनकी ओर तू ललचाई आँखों से देख रहा है, स्वास्थ्य को गिराने वाले हैं। इन विषय-भोगों के शक्ति-क्षय करने वाले स्वरूप को क्या तू अभी तक नहीं पहचान सका, शरीर की नश्वरता का तूने जरा भी ध्यान नहीं किया, क्या यह तेरे लिए अशोभनीय बात नहीं है ?”

“ऐ जीव ! विचार कर कि कितने सौभाग्य से तुझे यह मानव देह उपलब्ध हुई है। तुझे यह भी मालूम नहीं कि तू आया

कहाँ से, कहाँ जा रहा है ? कितना अच्छा होता, यदि तू अपने आप को जानने का प्रयत्न करता और इस मनुष्य जीवन का सदुपयोग करता । उदर-पूर्ति तो असहाय पशु-पक्षी भी कर लेते हैं, बच्चे तो ये जानवर भी पैदा कर लेते हैं । आलस्य और निद्रा में मस्त पड़े रहना व समय को व्यर्थ गँवाना तो पशु भी जानते हैं । तू भी इन्हीं सांसारिक क्रिया-कलापों में सीमाबद्ध रहा, तो तेरी विशेषता भी क्या रही ? सुख आखिर कब तक रहेंगे ? शरीर कब तक साथ देगा ? धन कब तक ठहरेगा ? ये तो आने-जाने वाले पदार्थ हैं, इन्हें तो तू त्यागपूर्वक ही भोग, आसक्त न हो । आसक्त होने से लाभ भी क्या ? तू नहीं तो यह पदार्थ ही एक दिन तुझे छोड़ जाएँगे । विचार कर, शरीर नहीं रहा, तो धन किसके साथ गया ? पद, सौंदर्य और सांसारिक सुखों को आज तक कौन अपने साथ ले गया है ? इन्हें तू यहीं तक सीमित रख और शाश्वत स्वरूप को जानने की इच्छा कर । ”

“देख तू माया में, अज्ञान में, अविद्या में, रोगग्रस्त होकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट हुआ है । अब तुझे अपने आप को पहचानने की इच्छा हुई है, तो इसे तू अपना महान सौभाग्य ही मान, पर यह और जान ले कि यह कार्य इतना आसान नहीं है, तुझे पग-पग पर कठिनाइयों से लड़ना पड़ेगा, बुराइयों को मारना पड़ेगा और मन की दुष्प्रवृत्तियों को मोड़कर सन्मार्ग की ओर चलना पड़ेगा । पथ दुर्गम है, संघर्ष से भरा है, इनसे लड़ने के लिए तू अपना गांडीव धारण कर अपने पुरुषार्थ का आह्वान कर क्योंकि यह अनंत शक्ति वाला आत्मा केवल साहसी व्यक्तियों को ही उपलब्ध हो पाता है । शूरवीर ही इस पथ का अनुसरण कर पाते हैं । ”

इस प्रकार के विचारों का उद्बोधन निरंतर चलते रहना चाहिए । संसार में फैले हुए कलुषित विचारों का मन में प्रभाव न पड़े, ऐसा संभव नहीं । यह आत्मोपदेश बहुत सरल है और उसे हृदयंगम भी किया जा सकता है । प्राप्त ज्ञान का सदुपयोग भी इसी से संभव है ।

आत्मा के स्वरूप की प्रतिष्ठा करने से वैसे ही गुणों का विकास होने लगता है। जीवात्मा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अपने आप को जिस स्थिति का अनुभव करने लगता है, उसकी मनोदशा का द्युकाव जिस तरफ हो जाता है, उधर ही उसकी उन्नति होने लगती है और अभ्यास होने पर उस स्थिति की पूर्णता को उपलब्ध कर लेता है। □

चेतन, चित्त—न, चिंतन

आत्मा के स्वरूप, स्वभाव और अनुभूति की व्याख्या करते हुए ऋषि ने बताया—“विश्व के संपूर्ण प्राणियों में व्याप्त चेतना ही आत्मा है। वह अति गृह्ण निर्गम तत्त्व है। इसलिए लोग प्रत्यक्ष नहीं देख पाते। स्पष्टतः चित्तवृत्तियाँ गतिशील जान पड़ती हैं, इसलिए मन या चित्त को ही आत्मा होने का भ्रम होता है, वस्तुतः चित्त आत्मा नहीं है। वह परम प्रकाश तत्त्व है।”

एकमात्र चिंतन ही वह उपाय है, जिसके द्वारा चेतना की, आत्मा की, अनुभूति और प्राप्ति संभव है। विद्वज्जन उसी अक्षर, अविनाशी, अजर-अमर आत्मा का चिंतन करते हैं। लौकिक जीवन से उतना ही संबंध रखते हैं, जितना आत्मा के आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है, अन्यथा आत्मा के गुणों और कौतुक का चिंतन ही उनका स्वभाव होता है। उसी में असीम तृप्ति भी है।

दीर्घतमा के शिष्यों में उस दिन विलक्षण खामोशी थी। इतिहास, भूगोल, जीव-विज्ञान, रसायन विज्ञान के पाठ्यक्रम भली-भाँति समझ में आ जाते थे, किंतु ‘आत्म-विद्या’ का विषय ही इतना गृह्ण और रहस्यपूर्ण है कि दीर्घतमा के बहुत प्रयत्न और विश्लेषण करने के बावजूद भी विद्यार्थी उसे समझ न पाए।

आत्मा का विषय प्रत्येक विद्यार्थी का निजी विषय था, इसलिए उसकी सर्वोपरि आवश्यकता भी थी। जब वह कक्षा आती थी तो उनकी गंभीरता भी बढ़ जाती और तन्मयता भी, किंतु आज भी आत्मा के चेतन स्वरूप का बोध विद्यार्थियों को नहीं ही हो पाया।

मध्याह्न के पूर्व ही एकाएक विद्यालय बंद की शंखध्वनि कर दी गई। विद्यार्थियों के हृदय 'मैं क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ, क्यों आया हूँ?' इन प्रश्नों को जानने के लिए पहले से ही बेचैन थे। गुरु द्वारा अकस्मात् विद्यालय बंद कर दिए जाने की घोषणा से वे और बेचैन हो गए। सब विद्यार्थी एक-एक कर अपने पर्णकुटीरों में चले गए। मध्याह्न की हलचल उस दिन किसी ने नहीं सुनी। संपूर्ण आत्म उस दिन विधवा की-सी शांति में ढूबा हुआ था।

सूर्य का रथ थोड़ा पश्चिम की ओर झुका और घंटा पुनः बजा। विद्यार्थी एकत्रित हुए, किसी के हाथ में न तो लेखनी थी और न भोज पत्र। कोई घोषणा भी न थी, छात्र एकत्रित हो गए तो ऋषि एक ओर चल पड़े, चुपचाप विद्यार्थियों ने भी उनका अनुगमन किया। एक ही पंक्ति में अनुशासनबद्ध गुरु का पीछा करते हुए चल रहे थे।

गांगेय के श्मशान-घाट पर दल रुक गया। घाट की सीढ़ियों के सहरे एक शव अटका हुआ था। ऋषि उसके समीप पहुँच गए। सब विद्यार्थी सीढ़ियों पर पंक्तिबद्ध बैठ गए।

ऋषि ने पाठ शुरू किया। शव के एक-एक अंग की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा—“इन दोनों हाथों की तुलना अपने हाथों से करो, वैसी ही बनावट, माँसल उंगलियों से युक्त, किंतु ये हाथ न हिलते हैं, न डुलते हैं, आँखें हैं, पर वह देखती नहीं, कान हैं पर यह सुनते नहीं। जिस मुख ने सैकड़ों सुस्वादुयुक्त पदार्थों को चखा, मुख आज भी वही है, पर अब यह खा भी नहीं सकता, नाक साँस नहीं ले रही। हृदय स्थान पर होने वाली धक-धक भी बंद है। यह सारा शरीर ज्यों-का-त्यों है, पर इसके लिए रूप, रस, गंध, आकाश, सूर्य-चंद्रमा, प्रकाश, बरसा, अग्नि आदि संपूर्ण वस्तुएँ अस्तित्वविहीन हैं।”

इस शरीर को क्रियाशील बनाने वाली शक्ति इससे ऐसे ही अलग हो गई, जैसे अँगारे से उष्मा और जल से शीतलता। जब तक वह शक्ति थी, तब तक यही शव क्रियाशील बना हुआ था, शक्ति न होने पर वही आज मुरदा है।

चींटी-चिड़ियाँ, हाथी, हेल, गाय, बैल, गरुड़, कौवा, गिर्धा आदि से लेकर मनुष्य तक इन सबमें एक ऐसी चेतनता है। किसी की शक्ति कम है, किसी की अधिक। वृत्तियाँ और संस्कार भी अलग-अलग हैं, किंतु देखने, सुनने, काम करने, इच्छाओं की पूर्ति में संलग्न रहने, प्रेम प्रदर्शित करने, काम व्यक्त करने, आहार, निद्रा, भय, मैथुन की प्रवृत्ति सबमें एक जैसी है। सभी में यह शक्ति एक गुण, रूप वाली मिलेगी। यह शक्ति प्रत्येक प्राणी में सन्निहित है, समायी हुई है, इसलिए इसे आत्मा कहते हैं। यह आत्मा ही प्रकाश, शक्ति अथवा चेतना के रूप में विभिन्न शरीरों में व्याप्त है, यद्यपि उसका शरीर से कोई संबंध नहीं। वह अजर, अमर, अविनाशी और सतत चेतनायुक्त है। पर स्थूल पदार्थ के साथ संगम हो जाने के कारण ऐसा भासता है कि वह जन्म लेता है और मृत्यु को भी प्राप्त होता है। सुख-दुःख का कारण यही विभांति ही है।

चेतना (आत्मा) विशुद्ध तत्त्व है। चित्त उसका एक गुण है। इच्छाएँ, वासनाएँ यह चित्त है, प्रवृत्तियाँ हैं, किंतु आत्मा नहीं, इसलिए जो लोग शारीरिक प्रवृत्तियों—काम, भोग, सौंदर्य, सुख को ही जीवन मान लेते हैं, वह अपने जीवन धारणा के उद्देश्य से भटक जाते हैं। चेतना का जन्म यद्यपि आनंद, परम आनंद, असीम आनंद की प्राप्ति के लिए ही हुआ है, तथापि यह चित्तवृत्तियाँ उसे क्षणिक सुखों में आकर्षित कर पथभ्रष्ट करती हैं, मनुष्य इसी सांसारिक काम-क्रीड़ा में व्यस्त बना रहता है, तब तक चेतना अवधि समाप्त हो जाती है और वह इस संसार से दुःख, प्रारब्ध और संस्कारों का बोझ लिए हुए विदा हो जाता है। चित्त की मलिनता के कारण ही वह अविनाशी तत्त्व, आत्मा इस संसार में बार-बार जन्म लेने को विवश होते हैं और परमानंद से वंचित होते हैं। सुखों में भ्रम पैदा करने वाला यह चित्त ही आत्मा का, चेतना का बंधन है।

“आत्म-ज्ञान के बिना किसी भी काल में किसी को भी मुक्ति नहीं मिलती”। ऋषि इस विषय को आगे बढ़ाते हुए अपनी वक्तृता

जारी किए हुए थे। तभी एक छात्र ने पूछा—“गुरुदेव ! यह आत्मा जब इतना सूक्ष्म, गूढ़ और रहस्यपूर्ण है, तो उसे पाया कैसे जा सकता है ? कैसे इन चित्तवृत्तियों के दाँव से छुटकारा पाया जा सकता है ।”

संकेत कर छात्र बैठ गया—ऋषि ने शंका का समाधान करते हुए बताया—“मैं शरीर हूँ” जब तक जीव यह मानता रहेगा, तब तक करोड़ उपाय करने पर भी शाश्वत सुख-शांति, जो आत्मा का लक्ष्य है, नहीं उपलब्ध हो सकती। हम शरीर नहीं हैं, शरीर में तो हम बैठे हैं, वाहन बनाए हैं, घुसे हैं, निश्चय है, फिर भी हम अपने को शरीर मानकर सारा व्यवहार करते हैं, पहले इस धारणा को बंद करना चाहिए और निश्चय करना चाहिए—मैं शरीर नहीं, शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि आदि अंतःकरण चतुष्टय से परे असंग शुद्ध आत्मा हूँ। कुछ दिन इसका निरंतर चिंतन करने से अपनी आत्मिक धारणा पुष्ट हो जाती है और आत्म-कल्याण का मार्ग दिखाई देने लगता है।

ऋषि गंभीर विवेचन में उतर गए। सूर्यदेव अस्ताचल की ओर बढ़ चले, किंतु आत्मा का विषय ही इतना आनंदप्रद था कि संपूर्ण छात्र निश्चल भाव से तन्मयता की मुद्रा में बैठे रहे। न उनकी जिज्ञासा तृप्त होती थी, उठने की किसी को इच्छा ही न थी। आश्चर्य और कुतूहल से सभी ध्यानपूर्वक गुरुदेव की व्याख्या सुनने में निमग्न थे। ऋषि ने आगे बताया—

“आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए न कोई परिश्रम करने की आवश्यकता है और न यत्न की। कठिन साधनों से अप्राप्त वस्तु के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। जो स्वयं ज्ञान रूप है, उसे अपने आप को ढूँढ़ने के लिए न तो जंगलों में भटकने की आवश्यकता है, न जीवन को शुष्क और कठोर बनाने की। अपने आप में अहंकार का जो भाव है, केवल उसे मिटा देने की आवश्यकता है। क्योंकि यह श्रम भी आत्मा की तरह अनादि और शांत है,

इसलिए अपने शक्तिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप चेतनता की धारणा को पुष्ट बनाने के लिए गहन चिंतन की आवश्यकता पड़ती है।"

आत्मा की प्राप्ति के लिए जितने भी साधन और उपासनाएँ बताईं गई हैं, वह केवल इसी बात को परिपृष्ठ करने के लिए हैं कि—“तुम शरीर नहीं, मन और इंद्रियाँ भी नहीं हो, इनसे परे अनंत शक्ति स्वरूप आत्मा हो। आत्मा बंधन रहित है। अपनी इच्छा, संकल्प बल से कहीं भी विचरण कर सकती है। प्रकाश खेल खेलता है। न उसका कोई बंधु है, न बांधव, पुत्र न कलत्र, सब विविध रूप आत्माएँ ही अपनी-अपनी चित्तवृत्तियों के कारण भाई, पिता, माता ऐसे भासते हैं। इस बंधन से छूटकर राग, द्वेष, ममता छोड़कर, केवल कर्तव्यपालन का ध्यान रखता हुआ, जो व्यक्ति आत्मा में ही रमण करता है। आत्मा का ही चिंतन करता है, आत्मा के गुणों के अनुरूप आचरण करता है। अंत में वह सांसारिक, सुख, ऐश्वर्य और भोगों को भोगते हुए भी आत्मा को प्राप्त कर लेता है। मन, प्राण एवं प्रकृति के परिवेश से प्रकट में पृथक-पृथक प्रतीत होने पर भी हम-आप सब वस्तुतः एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि आत्मा ही विभिन्न रूपों में व्यक्त होकर उन्मुक्त चेतना परमात्मा में परिगत होना चाहती है। जो इस तत्त्व रूप को खोजते हैं, वह तो अपना लक्ष्य पा जाते हैं और जो अपने चित्त की अहंवृत्तियों में ही भूलते-भटकते रहते हैं, वह सुख स्वरूप होने पर भी दुःख भुगतते हैं, बंधन-मुक्त होने पर भी बंधनों में पड़े रहते हैं।”

जीवित अवस्था में जो यह कहा करता था कि यह मेरा धन है, घर-बार है, मैं खाता हूँ, मैं पंडित हूँ, ज्ञानी हूँ। मेरा सौंदर्य सबसे बढ़कर है, आज वही बोलने वाला कहीं खो गया है, यद्यपि शरीर ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। मन और अहंकार से अपने को भिन्न समझने में ही आत्मा का सारा रहस्य छिपा हुआ है। चिंतन के इस सिद्धांत से इसी सिद्धांत की पुष्टि होती है।

यह आत्मा, मन और अहंकार से अलग रहकर अपना काम किया करती है। मन और अहंकार वस्तुतः जागतिक अवस्था के कारण हैं, जबकि आत्मा शाश्वत और अनादि है, बुधजन इसीलिए निरंतर आत्मा का चिंतन करते और अंत में सुखपूर्वक उसी भाव में अंतर्हित होकर परमात्मा की शरण में चले जाते हैं।

सूर्य लगभग ढल चुकने को था। संध्या का समय हो चुका था। जब यह ध्यान कर उन्होंने अपना पाठ समाप्त किया, तो विद्यार्थियों का भी ध्यान टूटा। उन्होंने अनुभव किया कि कुछ समय के लिए वे सब ऐसे लोक में, चिंतन की गहन स्थिति में पहुँच गए थे, जो आत्मा का यथार्थ लक्ष्य है, सबको अपना पाठ समझ लेने का संतोष था। ऋषि के पदों का अनुसरण करते हुए सभी विद्यार्थी गुरुकुल लौट आए और अपने-अपने संध्या पूजन में लग गए। □

आत्मा और परमात्मा का संबंध

आत्मा परमात्मा का ही अंश है। जिस प्रकार जल की धारा किसी पत्थर से टकराकर छोटे छीटों के रूप में बदल जाती है, उसी प्रकार परमात्मा की महान सत्ता अपने क्रीड़ा, विनोद के लिए अनेक भागों में विभक्त होकर अगणित जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। सृष्टि-संचालन का क्रीड़ा-कौतुक करने के लिए परमात्मा ने इस संसार की रचना की। वह अकेला था। अकेला रहना उसे अच्छा न लगा, सोचा एक से बहुत हो जाऊँ। उसकी यह इच्छा ही फलवती होकर प्रकृति के रूप में परिणत हो गई। इच्छा की शक्ति महान है। आकांक्षा अपने अनुरूप परिस्थितियाँ तथा वस्तुएँ एकत्रित कर ही लेती हैं। विचार ही कार्यरूप में परिणत होते हैं और उन कार्यों की साक्षी देने के लिए पदार्थ सामने आ खड़े होते हैं। परमात्मा की एक से बहुत होने की इच्छा ने ही अपना विस्तार किया, तो यह सारी वसुधा बनकर तैयार हो गई।

परमात्मा ने अपने आप को बख़ेरने का झङ्झट भरा कार्य इसलिए किया कि बिखरे हुए कणों को फिर एकत्रित होते समय असाधारण

आनंद प्राप्त होता रहे। बिछुड़ने में जो कष्ट है, उसकी पूर्ति मिलन के आनंद से हो जाती है। परमात्मा ने अपने टुकड़ों को अंश, जीवों को बखेरने का विछोह कार्य इसलिए किया कि वे जीव परस्पर एकता, प्रेम, सद्भाव, संगठन, सहयोग का जितना-जितना प्रयत्न करें, उतने आनंदमन होते रहें। प्रेम और आत्मीयता से बढ़कर उल्लास इस पृथ्वी पर और किसी वस्तु में नहीं है, इसी प्रकार एकता और संगठन से बढ़कर शक्ति का स्रोत और कहीं नहीं है। अनेक प्रकार के बल इस संसार में मौजूद हैं, पर प्राणियों की एकता के द्वारा जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसकी तुलना और किसी से भी नहीं की जा सकती। पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र, गुरु-शिष्य आदि की आत्मीयता जब उच्च स्तर तक पहुँचती है, तो उस मिलन का आनंद और उत्साहवर्द्धक प्रतिफल इतना सुंदर होता है कि प्राणी अपने को कृत-कृत्य मानता है।

कबीर का दोहा प्रसिद्ध है—

राम बुलावा भेजिया, कबिरा दीना रोय।

जो सुख प्रेमी संग में, सो बैकुण्ठ न होय॥

इस दोहे में बैकुण्ठ से अधिक प्रेमी के सानिध्य को बताया गया है। कबीर प्रेमी को छोड़कर स्वर्ग जाने में दुःख मानते और रोने लगते हैं। वस्तु स्थिति यही है। सच्चे प्रेम में ऐसा ही आनंद होता है। जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच में निष्कपट, निःस्वार्थ, आंतरिक और सच्ची मित्रता होती है, वहाँ गरीबी आदि की कठिनाइयाँ गौण रह जाती हैं और अनेक अभावों एवं परेशानियों के रहते हुए भी व्यक्ति उल्लास भरे आनंद का अनुभव करता है।

उपासना में प्रेम का अभ्यास एक प्रमुख आधार है। ईश्वर की भक्ति करने का अर्थ है—आदर्शवाद। प्रेम के विकास का आधार भी यही है। सच्चे और ईमानदार मनुष्यों के बीच ही दोस्ती बढ़ती और निभती है। धूर्त और स्वार्थी लोगों के बीच तो मतलब की दोस्ती होती है, यह जरा-सा आघात लगते ही काँच के गिलास की तरह

दूट-फूटकर नष्ट हो जाती है। लाभ में कमी आते ही तोते की तरह आँखें फेर ली जाती हैं। यह दिखावटी धूर्ततापूर्ण मित्रता तो एक प्रवंचना मात्र है, पर जहाँ जितने अंशों में सच्चा मैत्री भाव होता है, वहाँ आनंद, संतोष और प्रफुल्लता की निर्झरणी निरंतर झरती रहेगी। यदि कुछ लोगों का परिवार या संगठन प्रेम के उच्च आदर्शों पर आधारित होकर विकसित हो सके, तो वहाँ उस परिवार के भी सदस्यों को विकास एवं हर्षोल्लास का परिपूर्ण अवसर मिलता रहेगा। जिस समाज में सच्ची मित्रता, उदारता, सेवा और आत्मीयता का आदर्श भली प्रकार फलने-फूलने लगता है, वहाँ निश्चित रूप में स्वर्गीय वातावरण विनिर्मित होकर रहता है। देवता जहाँ-कहीं रहते होंगे, वहाँ उनके अच्छे स्वभाव ने प्रेम का वातावरण बना रखा होगा और उस भाव-प्रवाह ने वहाँ स्वर्ग की रचना कर दी होगी। स्वर्ग यदि कहीं हो सकता है, तो उसकी संभावना वहीं होगी, जहाँ सज्जन पुरुष प्रेमपूर्वक मिल-जुलकर आत्मीयता, उदारता, सेवा और सज्जनतापूर्वक रह रहे होंगे।

ईश्वर उपासना से स्वर्ग की प्राप्ति का जो माहात्म्य बताया गया है, उसका आधार यही है कि उपासना करने वाले को भक्ति का मार्ग अपनाना पड़ता है। परमात्मा को, आत्मा को, आदर्शवाद को जो भी प्यार करना सीख लेगा, उसे अनिवार्यतः प्राणिमात्र से प्रेम का अभ्यास होगा और इस कारण के रहते हुए उसका निवास स्थान एवं समीपवर्ती वातावरण एवं स्वर्गीय अनुभूतियों से ही भरा-पूरा रहेगा। उपनिषद् का वचन है—“रसो वै सः” अर्थात् प्रेम ही परमात्मा है। वाइबिल में भी इसी तथ्य की पुष्टि की है और मनुष्य को प्रेमी स्वभाव का बनने पर जोर देते हुए कहा है कि जो प्रेमी है, वही ईश्वर का सच्चा भक्त कहलाएगा, भक्ति की महिमा से अध्यात्म शास्त्र का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है। भक्ति से मुक्ति मिलने की मान्यता बताई जाती है। भक्त के वश में भगवान् को बताया गया है। इन मान्यताओं का कारण एक ही है कि प्रेम की हिलों जिस अंतरात्मा में उठ रही

होंगी, उसका स्तर साधारण न रहेगा। जिसमें दिव्य गुण, दिव्य स्वभाव का आविर्भाव होगा, वह दिव्य कर्म ही कर सकेगा। ऐसे ही व्यक्तियों को देवता कहकर पुकारा जाता है। जहाँ देवता रहेंगे, वहाँ स्वर्ग तो अपने आप ही होगा।

प्रेम का अभ्यास ईश्वर को प्रथम उपकरण मानकर किया जाता है। कारण यही है कि उसमें कोई भी स्वार्थ दोष नहीं है। सूक्ष्म की उपासना जिन्हें कठिन पड़ती है, वे साकार प्रतिमा बनाकर अपनी भावनाओं को किसी पूजा प्रतीक पर केंद्रित करते हैं। निर्जीव होते हुए भी वह माध्यम सजीव हो उठता है। मूर्तिपूजा का तत्त्वज्ञान यही है, इस बात को हर कोई जानता है कि देव प्रतिमाएँ पत्थर या धातु की बनी निर्जीव होती हैं। उनके सजीव होने की बात कोई सोचता तक नहीं, पर यह आध्यात्मिक तथ्य मूर्तिपूजा के माध्यमों से प्रकाश में लाया जाता है कि जिस किसी से सच्चा प्रेम किया जाएगा, जिसके लिए भी आस्था और श्रद्धा का प्रयोग किया जाएगा, वह वस्तु चाहे निर्जीव हो या सजीव, भक्त की भावना के अनुरूप फल देने लगेगी। मूर्तिपूजा करते हुए साकार उपासना करने वाले अगणित भक्तजन जीवनलक्ष्य को प्राप्त कर सकने में सफल हुए हैं। मीरा, सूर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस आदि की साकार उपासना निरर्थक नहीं गई। उन्हें परमपद तक पहुँचा सकने में ही समर्थ हुई।

रबड़ की गेंद दीवार पर मारने से लौटकर फेंकने वाले के पास ही पीछे को लौटती है। पक्के कुएँ में मुँह करके आवाज लगाने से प्रतिध्वनि गूँजती है। उसी प्रकार इष्टदेव को दिया हुआ प्रेम लौटकर प्रेमी के पास ही आता है और उस प्रेम प्रवाह से रससिक्त हुआ अंतरात्मा ईश्वर मिलन, ब्रह्म साक्षात्कार एवं भगवत् कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। एकलव्य भील की बनाई हुई मिट्टी की द्रोणाचार्य की प्रतिमा उसे उतनी शस्त्र विद्या सिखाने में समर्थ हो गई, जितनी कि गुरु द्रोणाचार्य स्वयं भी नहीं जानते थे। मिट्टी के द्रोणाचार्य में एकलव्य की जो अत्यंत निष्ठा थी, उसके कारण ही

वह प्रतिक्रिया संभव हो सकी कि वह भील बालक उस युग का अनुपम शस्त्रचालक बन सका। ईश्वर के साकार व निराकार स्वरूप का ध्यान, पूजन, जप, अनुष्ठान करते हुए साधक अपनी प्रेम भावना, श्रद्धा और निष्ठा को ही परिष्कृत करता है। इस मार्ग में वह जितनी प्रगति कर सके, उतनी ही ईश्वरानुभूति परमानंद उसे उपलब्ध होने लगता है।

साधना यदि सच्चे उद्देश्य से की गई हो, तो उसका परिणाम यह होना ही चाहिए कि उपासक के मन में प्रेम की धारा प्रवाहित होने लगे। वह प्राणिमात्र को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को प्राणिमात्र में देखे। दूसरों का दुःख उसे अपने निज के दुःख जैसा कष्टकारक प्रतीत हो और दूसरों को सुखी, समुन्नत देखकर अपनी श्री-समृद्धि की भाँति ही संतोष का अनुभव करे। प्रेम का अर्थ है—आत्मीयता और उदारता। जिसके साथ प्रेमभाव होता है, उसके साथ त्याग और सेवापूर्ण व्यवहार करने की इच्छा होती है, प्रेमी अपने को कष्ट और संयम में रखता है और अपने प्रेमपात्र को सुविकसित, सुंदर एवं सुरम्य बनाने का प्रयत्न करता है। सच्चे प्रेम का यही एकमात्र चिह्न है कि जिसके प्रति प्रेम भावना उपजे, उसे अधिक सुंदर, अधिक उज्ज्वल एवं प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाए। □

ईश्वर अंश जीव अविनाशी

जन्म से बालक में जो गुण और संस्कार पाए जाते हैं, वे अधिकांश उसके पिता के गुणों और संस्कारों की प्रतिच्छाया ही होते हैं। बीज और फल में शक्ति, गुण और स्वाद की विशेषता प्रायः एक जैसी ही होती है। मीठे फल के बीज से उत्पन्न वृक्ष भी मीठे फल ही प्रदान करने वाले होते हैं। वातावरण, जलवायु तथा आहार-विहार के क्रम में विशेष परिवर्तन न हो तो, वैज्ञानिकों और डॉक्टरों का मत है कि संतान के शरीर के न केवल सूक्ष्म गुणों में ही समानता पाई जाती है, वरन् स्थूल द्रव्य में भी एकता के सभी लक्षण दिखाई दे जाते हैं।

जीवात्मा के संबंध में आत्म-विद्या विशारद आचार्यों का भी यह मत है। वेद, शास्त्र, उपनिषद, गीता, पुराण, रामायण—इन सब ग्रंथों में आत्मा के संबंध में जो विवेचना हुई है, वह एक जैसी ही है। सबने स्वीकार किया है कि जीव अविनाशी तत्त्व है, वह ईश्वर का अंश है। यह जीवात्मा का पहला गुण है। उसमें परमात्मा के सब गुण बीज रूप से विद्यमान हैं। जीव को अनंत सुखी, चेतन तथा निर्मल बताया गया है। यह गुण उसके पिता परमात्मा के ही गुण हैं।

किंतु यदि किसी मनुष्य के जीवन को देखें, तो उसमें इन गुणों का अभाव ही दिखाई देता है। आजकल तो विषमता और भी तीव्र हो गई है। सुख की चिर-अभिलाषा रखते हुए भी लोग दुखी हैं। कष्ट और पीड़ाओं से छटपटा रहे हैं। हर व्यक्ति अशांत और उद्धिग्न ही दिखाई देता है, ऐसी स्थिति में कोई भी यह मानने के लिए तैयार न होगा कि प्रस्तुत जीवन में भी ईश्वरीय चेतना का अंश विद्यमान है।

जीव का दूसरा गुण चेतनता, विचार और भावनाओं की शक्ति भी यद्यपि बीज रूप में उसमें देखने को मिलेगी, पर यह गुण भी प्रायः किसी में उपयुक्त मात्रा में देखने को नहीं मिलता। लोगों में विचार और भावनाएँ तो उठती हैं, पर इनमें अनंत आकाश को मथ डालने की शक्ति नहीं होती। विचारों की शक्ति किसी से छिपी नहीं है। विचारों में संसार में भयानक हलचल करने वाली शक्ति है, वैसी ही शक्ति भावनाओं में है। भावनाओं की शक्ति से इस देश में भक्ति के ऐसे सूक्ष्म पर सशक्त स्पंदन पैदा किए गए हैं—जो इस अधःपतित युग में भी धर्म और संस्कृति को निरंतर जीवन प्रदान कर रहे हैं। जहाँ इन दोनों गुणों का मेल होता होगा, वहाँ की शक्ति का तो कहना ही क्या? जीव में चेतनता का यह गुण बड़ा महत्त्व रखता है, पर वह आज बहुत कम लोगों में देखने को मिलता है।

जीव के मूल स्वरूप न होने में मुख्य कारण उसमें तीसरे गुण अर्थात् निर्मलता का अभाव है। माया, अविद्या या अज्ञान सब इसी

के नाम हैं। मनुष्य को चाहे जिन शब्दों से निंदित किया जाए, पर मुख्य बात एक ही है कि उसने अपने आप को अंधकारमय अथवा विकारयुक्त कर लिया है। इसीलिए वह अपने मूल स्वरूप को पहचानने में असमर्थ है। गंदे जल में सूर्य का प्रतिबिंब नहीं दिखाई देता, दर्पण मैला हो तो मुखाकृति साफ न दिखाई देगी। जीव मायाग्रस्त, अविद्या या मलग्रस्त हो तो उसकी भी ऐसी दशा होती है। वह अपने ईश्वरीय स्वरूप को पहचानने में असफल ही रहता है।

शाश्वत, मुक्त और अमर जीवात्मा अज्ञानता या माया के वश में होकर वैसी ही क्रियाएँ करता रहता है, जैसे बंदरवाला बंदर को बाँधकर नचाता रहता है। यद्यपि यह माया कोई दृश्य रूप में नहीं है, फिर भी वह लोगों को नचाती रहती है, यह कहने की अपेक्षा अब यह कहना अधिक उपयुक्त है कि लोग स्वयं ही अज्ञान में भटक रहे हैं। 'हमें क्या करना चाहिए'? इस ज्ञान का अभाव ही अविद्या है, इसी कारण लोग गलत कार्य करते और दंड भुगतते हैं।

जिहा के स्वाद, नेत्रों की सौंदर्य-लिप्सा, कानों की मधुर संगीत सुनने की इच्छा तथा कामवासना आदि विषयों में आसक्ति हो जाने के कारण विद्या-अविद्या की बात विलुप्त हो गई। जड़-चेतन में ऐसी गाँठ पड़ गई कि उनका पृथक अस्तित्व भी समझ में नहीं आता। चेतना ने अपने आप को जड़ मान लिया और जड़ता के काम करने लगी। यद्यपि जड़त्व की, अपने आप को मात्र शरीर मानने की बात नितांत मिथ्या, भ्रम, अज्ञान है तो भी लोग उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं। युग-युगांतरों से अभ्यास में आने वाला स्वभाव-गुण एकाएक छूट भी नहीं सकते। जीव ने संसारी होने का अपना विश्वास इतना पुष्ट कर लिया है कि जड़-चेतनता के बीच जो ग्रंथि पड़ गई है, वह छूटती नहीं और जब तक यह भ्रम दूर नहीं होता, तब तक कष्ट भी दूर नहीं होते।

महापुरुषों, श्रुतियों, पुराणों ने तरह-तरह के उपाय और अनेक प्रकार के साधन बताए, पर जीव के हृदय में सांसारिक सुख, लोभ,

मोह आदि का अंधकार इतना सघन होकर छा गया कि वह इनसे छूटने का प्रयत्न करने की अपेक्षा और भी उलझता गया। मुक्त होने के लिए उसने कुछ प्रयास भी न करना चाहा।

ईश्वर की कृपा या किन्हीं देव-पुरुषों के अनुग्रह से कदाचित् इस प्रकार का विचार मन में आ जाए कि आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, अपना रहस्य जानना चाहिए, परमात्मा का दर्शन करना चाहिए, तो उसे अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों का प्रतिफल या ईश्वर की कृपा दृष्टि ही समझनी चाहिए। उस पर यदि किसी के अंतःकरण में श्रद्धा जाग्रत हो जाए, तो उसे अपना बड़ा सौभाग्य मानना चाहिए।

श्रद्धा का उदय होना निश्चय ही अनेक जन्मों के पुण्यों का प्रतीक है, पर अकेली श्रद्धा ही आत्म-कल्याण नहीं कर देती, वह तो अपने जीवनलक्ष्य की ओर उन्मुख करने वाला प्रकाशमात्र है। उनको उस यात्रा पथ पर चलने की भी आवश्यकता है। शास्त्र इस क्रिया को धर्माचरण बताते हैं। अर्थात् श्रद्धा उदय हो तो मनुष्य को जप, तप, ब्रत, यम, नियम आदि साधनों का आश्रय लेकर जीवन जीने और आत्म-शोधन की प्रक्रिया प्रारंभ कर देनी चाहिए। संसार में जितने भी शुभ कर्म हैं, वे सब धर्म का आचरण कहलाते हैं, इनसे आत्मा का बल बढ़ता है और उसमें सबलता आने लगती है।

आत्म-कल्याण की साधनाएँ भावनाओं का रस पाकर शीघ्र फलदायिनी होती हैं, यों इन सब साधनाओं में उदासीनता हो तो भी प्रगति तो होती ही है, किंतु जब भावनाओं का सम्मिश्रण हो जाता है, तो साधना से ही एक अलौकिक आनंद की रसानुभूति होने लगती और लक्ष्यप्राप्ति के लिए जो समय की दूरी थी, वह कम अखरने लगती है। भावना मनुष्य की साधना में सफलता की आशंका को भी कम कर देती है। “मैं तेरा हूँ, अब तुझे छोड़कर कहाँ जाऊँ? मुझे अज्ञान से निकाल और मानव जीवन के उपयुक्त आचरण करने की क्षमता प्रदान कर। अब मेरे जीवन का सर्वस्व तू ही है।” इस प्रकार की भावनाएँ आत्म-कल्याण के पथिक को बड़ा बल प्रदान करती

हैं। विश्वास बढ़ाती हैं और मन में चढ़े कुसंस्कारों के ढेर को बात की बात में जलाकर खाक कर डालती हैं। साधना काल में भावनाओं का होना इसी दृष्टि से बड़ा शुभ और लाभजनक माना जाता है। भावनाएँ जिसे मिल जाएँ, उसे अपने आप पर ईश्वरीय विशेष कृपा ही माननी चाहिए।

इस प्रकार भक्त धर्म-कर्म करते हुए मन की कामनाओं को मारता और उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल, द्वेष, पाखंड, झूठ, बेर्इमानी आदि दुष्प्रवृत्तियों से विमुक्त करता है। वासनाएँ और सांसारिक प्रलोभन उसे बार-बार अपनी ओर आकर्षित करते हैं, वह बार-बार इनसे लड़ता है, इन्हें मारता है, आत्मा के गुणों को बढ़ाता है। दया, क्षमा, करुणा, संतोष, समता, धृति आदि सद्गुणों का विकास करता है। इंद्रियों का दमन करता है और जो दोष-दुर्गुण होते हैं, उन्हें बार-बार ठीक करता है, सत्प्रवृत्तियों की शोध और दुष्प्रवृत्तियों के विरोध का विचार कभी भी मंद नहीं होने देता, वरन् वैसा करते हुए वह उत्साह अनुभव करता है। विचार-मंथन के द्वारा वह सत्य को आग्रहपूर्वक अपने जीवन में धारण करता और दुष्कर्मों, असत् तत्त्वों का परित्याग करता जाता है।

यह विज्ञानमय बुद्धि अंतःकरण की ममता, मद, मोह आदि को जला डालती है, उस अवस्था में केवल ब्रह्म की अखंड और दिव्य ज्योति आत्मा में अनुभव होने लगती है। वह प्रकाश मनुष्य के अज्ञान, अविद्या या माया को भस्म कर डालता है, मनुष्य जीव-भाव से मुक्त होकर पुनः अपने परमपिता परमात्मा की गोद में ही समा जाता है। यह अवस्था अनंत सुख, अनंत आनंद की अवस्था होती है। □

परमात्मा को जानने के लिए

अपने आप को जानो

संत वास्वानी से एक दिन कुछ लोगों ने प्रश्न किया—“भगवान क्या है?” “भगवान ज्योतियों की ज्योति है, मध्यवर्ती सूर्य है।” उन्होंने उत्तर दिया। लोगों ने फिर प्रश्न किया—“इस ज्योति से, इस

मध्यवर्ती सूर्य से अपना नाता कैसे जोड़ें ? ” वास्वानी ने पुनः समझाया— “ बस सूर्यमुखी बन जाओ । जैसे सूर्यमुखी सदैव सूर्य के प्रति मुख किए रहता है, यद्यपि उसकी देह में अन्य क्रियाएँ अपनी मर्यादा में चलती रहती हैं, जड़ें रस खींचती रहती हैं, पत्तियाँ साँस लेती रहती हैं, हवा में वह हिलता-डुलता रहता है, पर उसका सूर्यमुखी नाम इसीलिए पड़ा क्योंकि वह सदैव सूरज की ओर मुख किए रहता है, इसी तरह परमात्मा को पाने के लिए सदैव परमात्मा की ओर मुख किए रहो । ”

“ किंतु सूर्यमुखी बनें कैसे ? लोगों ने तीसरा प्रश्न किया । ” उन्होंने उत्तर दिया— “ अपने हृदय को तीव्र अभीप्सा से भर लो । एक बार खूब अच्छी तरह निश्चय कर लो कि मनुष्य जीवन का ध्येय अनंत ऐश्वर्य, सुख-संतोष, शांतिप्रद परमात्मा की प्राप्ति है । जब वह तुम्हारा लक्ष्य बन जाएगा, तो भगवान की ओर मुख किए रहोगे और धन्य हो जाओगे । ”

ईश्वरप्राप्ति की सच्ची आकांक्षा का होना ही प्रधान बात है, परमात्मा कहीं अन्यत्र नहीं । उसे ढूँढ़ने, प्राप्त करने और पहचानने का प्रयत्न नहीं किया जाता, इसीलिए अधिकांश लोगों के हृदय अंधकार से भरे हैं । लोगों के भीतर तामस का, रात का, अज्ञान का राज्य है । जब अपने हृदय को ही जीवन का केंद्रबिंदु बना लिया जाता है, तो आनंदस्वरूप परमात्मा का अस्तित्व वहीं झलकने लगता है, उसे ढूँढ़ने के लिए कहीं भागने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

हमारा हृदय हमारी आत्मा के विश्वास का अंश है । जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य का अंश हैं, पर पृथक दीखती हैं, उसी तरह आत्मा भी परमात्मा का अंश है, पर पृथक दीखता है । अपने को, अपनी गहनतर आत्मा को विश्वात्मा का अंश जान लेना ईश्वर को जान लेना है ।

मनुष्य अपने शरीर के वाह्य क्रिया-कलापों की व्यस्तता से कुछ गहराई में डूब सकता है, यह सभी उसके गुण हैं, विशेषताएँ हैं, पर वह स्वयं इनसे परे है । वह इनसे परे जाकर अपने को इनसे

भिन्न, शक्तिशाली और परम तेजस्वी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी विशुद्ध आनंदस्वरूप प्रकाश अनुभव कर सकता है।

जिन लोगों ने अपने भीतर ईश्वर की शोध की है, वे सब अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। सबने यही बताया है कि मनुष्य चिंतन के द्वारा मन, बुद्धि और भावनाओं पर ध्यान जमाता हुआ आत्मा के अस्तित्व तक पहुँचता है और इस अनुभव के बाद इस बोध को प्राप्त करता है कि वह परमात्मा जिसमें आत्मा विकसित हो जाती है, आत्माओं से भी परे और सभी में एक ही प्रकार से व्याप्त है।

एक गाँव में एक बार नानक का आगमन हुआ। वे कहते थे—
ईश्वर सबके अंदर है। हिंदू, मुसलमान का कोई भेद नहीं। उस गाँव के नवाब ने उनसे कहा—“आपके लिए तो मंदिर और मसजिद एक बराबर हैं, तो क्या आप आज हमारे साथ मसजिद में नमाज पढ़ने को तैयार हैं?” नानक ने बहुत आनंदित होकर कहा—“जरूर ! जरूर !! परमात्मा की प्रार्थना में सम्मिलित होने से बड़ा आनंद और क्या है?”

फिर सब लोग मसजिद में गए और नमाज शुरू हुई। सब लोग नानक की नमाज देखना चाहते थे, किंतु नानक चुपचाप एक कोने में खड़े हो गए और सबको देखने लगे। उनको इस प्रकार खड़ा देखकर नमाजिये बहुत गुस्सा हुए। वे नमाज भी पढ़ते थे और बीच-बीच में नानक की ओर क्रोध से देख भी लेते थे। जल्दी-जल्दी किसी तरह बेचारों ने नमाज पूरी की और सब एक दम नानक पर टूट पड़े। किसी ने उन्हें धोखेबाज कहा, किसी ने वचन तोड़ने वाला। नवाब ने आँख लाल-पीली करके डाँटा, आपने नमाज क्यों नहीं पढ़ी? नानक हँसे और बोले—“आप लोगों ने भी तो नहीं पढ़ी। इसलिए हमने भी नहीं पढ़ी। आप लोगों का खेल देखता रहा, यदि आप नमाज पढ़ते रहते, तो फिर मेरे लिए भी चुपचाप खड़ा रहना कठिन ही हो जाता।”

उन नमाजियों की तरह जो लोग ईश्वरप्राप्ति की बात तो करते हैं, किंतु उनकी सारी उलझन जीवन के बाह्य क्रिया-कलापों तक सीमित रहती हैं, इसलिए उनका नानक (उनका मन) भी आत्मानुभूति में खो नहीं पाता। जिस दिन शरीर और मन की सारी चेष्टाएँ सिमटकर आत्मा में केंद्रित हो जाती हैं, अंधकार उसी दिन दूर हो जाता है और मनुष्य परमात्मा के निकट पहुँचा हुआ अनुभव करने लगता है।

“मज्जाम निकाय” में तथागत का एक सुंदर उपदेश है, वह कहते हैं—कल्पना करो कि किसी मनुष्य के पैर में विष बुझा तीर चुभ गया है। यदि यह मनुष्य कहे कि मैं तब तक तीर नहीं निकलवाऊँगा, जब तक मुझे ज्ञात न हो जाए कि तीर चलाने वाले का नाम, कुल और गोत्र क्या था? वह ऊँचा था या मझले कद का। धनुष कैसा था, प्रत्यंचा कैसी थी, तीर कैसा था?

लोग परमात्मा के संबंध में भी ऐसे ही तर्क-वितर्क, वाद-विवाद करते हैं, पर अपने हृदय में जीवन के बोझ, दुःख-कठिनाइयों, दैवी आपत्तियों का जो तीर चुभा हुआ है, उसे निकालने की ओर किसी का ध्यान नहीं। हमें सर्वप्रथम आत्मा के दरद को अनुभव करने की आवश्यकता है। बाह्य जीवन के प्रपञ्चों को छोड़कर अंतर्मुखी होने की बड़ी आवश्यकता है। बाहरी क्रियाओं को केवल सहयोगी मानना चाहिए। वे लक्ष्य, सत्य या परमात्मा की प्राप्ति का साधन बनाई जा सकती हैं, इसलिए अपने शरीर, मन और भावनाओं के केंद्रबिंदु को बेधने की आवश्यकता नहीं कि कौन-सा तत्त्व कितना सुखद है, किस सुख की प्राप्ति के लिए किधर दौड़ना चाहिए? जब इन सब बातों को साधन बना लिया जाता है, तो आवश्यकताएँ भी घट जाती हैं और लक्ष्य भी अपने समीप ही स्पष्ट होने लगता है। उसे पाने के लिए न तो लंबे साधनों के लिए दौड़ना पड़ता है और न घर ही छोड़ना पड़ता है।

उपनिषदों ने—आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः।—कहकर इसी तथ्य को व्यक्त किया है और

बताया है कि विभिन्न साधनों से तुम अपने आप को पहचानो। जिस दिन आत्म-शक्ति का विश्वास जाग जाता है, उस दिन परमात्मा के अस्तित्व का विश्वास जमते देर नहीं। विश्वास का जमना उतना ही आनंददायक है, जितना परमात्मा की प्राप्ति।

मनुष्य अपनी छिपी हुई शक्तियों को पहचाने बिना शक्तिशाली नहीं बन सकता। जो जैसा अपने को जानता है या जिसकी जैसी अभीप्सा है, वह वैसा ही बन जाता है। अपने को जानना सब सिद्धियों में बड़ी सिद्धि है। लाखों में एक-दो होते हैं, जो अपने को जानने का यत्न करते हैं, यत्न करने वालों में भी थोड़े-से ऐसे होते हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को पहचानने के लिए देर तक अपने आप को निर्दिष्ट किए रहते हैं। जिसने भी मनुष्य देह में जन्म लिया है, वह आत्मा के समीप पहुँचा दिया गया है, किंतु थोड़े ही हैं, जो उसमें प्रवेश पाते हैं।

शरीर में काम-क्रोध, मोह, संतोष, दंड, दया आदि अनेक भावनाएँ हैं, यह सब या तो आनंद की प्राप्ति के लिए हैं अथवा आनंद में विघ्न पैदा होने के कारण हैं। आनंद सबका मूल है, वैसे ही आनंद सबका लक्ष्य है। लक्ष्य और उसकी सिद्धि दोनों ही आत्मा में विद्यमान हैं, जो आत्मा को ही लक्ष्य बनाकर आत्मा के ही द्वारा अपने आप को वेधता है, वह उसे पाता भी है। आत्मा ही परमात्मा का अंश है, इसलिए आत्मा का ज्ञान हो जाने पर परमात्मा की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। □

अहं और उसकी वास्तविक सत्ता

छांदोग्योपनिषद् में एक कथा आती है। एक बार इंद्र और विरोचन दो व्यक्तियों में अपने आपको जानने की जिज्ञासा पैदा हुई। 'मैं क्या हूँ?' वे बार-बार इस पर सोचते-विचारते, लेकिन उन्हें "मैं" का अता-पता नहीं लगा। आखिर दोनों मिलकर आदरपूर्वक शिष्य भाव से हाथ में समिधाएँ लेकर आचार्य प्रजापति के पास गए और नम्रतापूर्वक उनसे अपनी जिज्ञासा प्रकट की। उनके प्रश्न का

जवाब देते इसके पूर्व ही प्रजापति ने उनकी योग्यता, पात्रता को जानने के लिए एक युक्ति निकाली। उन्होंने कहा—“थाली में पानी भरकर अपना-अपना मुँह देखो, उसमें तुम्हें अपना स्वरूप दिखाई देगा।”

इंद्र और विरोचन दोनों झट से सजधजकर पानी से भरी थाली में अपने को देखने लगे। विरोचन को अपना सजा-सँवारा रूप देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और अपने साथियों में जाकर अभिमान के साथ कहने लगा—“भाई, मैंने तो, ‘मैं’ का पता लगा लिया है।” इंद्र कुछ बुद्धिमान था, उसे संतोष नहीं हुआ और वह आचार्य प्रजापति के पास जाकर कहने लगा—“भगवान ! असंस्कृत शरीर की प्रतिच्छाया ही प्रतिबिंब में दिखाई देती है। यदि यह शरीर काना, लूला, लँगड़ा होता तो प्रतिच्छाया भी वैसी ही दिखाई देती, वस्त्र-अलंकारों को उतार देने पर प्रतिबिंब का सौंदर्य भी नष्ट हो जाता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह भी नहीं रहता। इसलिए मैं अपना स्वरूप किसे मानूँ? मुझे इससे शांति नहीं मिलती।”

—छांदोग्योपनिषद् ८/९२

इंद्र समझदार था। सोचा इन वस्त्र-अलंकारों से सजा हुआ शरीर ही यदि “मैं हूँ”, तो यह निश्चित है कि इनके नष्ट होते ही मैं भी नष्ट हो जाऊँगा। इनके मैले, जीर्ण-शीर्ण होने पर “मैं” भी त्याज्य बन जाऊँगा। जो नष्ट होने वाली वस्तुएँ हैं, वह कदापि “मैं” नहीं हो सकती और इंद्र को इससे शांति नहीं हुई और न ही उसको समाधान ही मिला। अपने इस मनोभाव को उसने आचार्य के समक्ष निर्भय होकर प्रकट कर दिया। उधर विरोचन अपने सजे हुए सुंदर वस्त्र-अलंकारों से विभूषित शरीर के प्रतिबिंब को ही “मैं” का स्वरूप जानकर के चला गया।

हम में से बहुत कम लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है “मैं क्या हूँ?” इस पर बहुत कम लोग ही सोचने-विचारने का प्रयत्न करते हैं। अधिकांश तो भवसागर के प्रवाह में बहने वाले ही बनकर

रहते हैं। उनके मन, बुद्धि, चेतना पर अज्ञान का परदा इस तरह पड़ा रहता है कि वे कभी यह सोचते तक नहीं कि वे कौन हैं? उन्हें क्या करना है? कहाँ जाना है?

कुछ लोग मैं के अस्तित्व को शरीर तक ही मानकर विरोचन की-सी भूल कर बैठते हैं और शरीर को सुख देने, खाने-पीने, खुश रहने, मौज-मजा उड़ा लेने में ही जीवन का सार समझते हैं। लेकिन यदि शरीर को ही मैं का स्वरूप मान लिया जाए, तो फिर जीवन का मूल्य ही क्या रह जाता है। कोई झंझट ही फिर शेष नहीं रह जाता। कुछ करने या न करने का कोई महत्व नहीं रहता, फिर ज्ञान-विज्ञान की बात कौन करे? फिर न जीने से लाभ रहता, न मरने से हानि, क्योंकि सभी शरीरों की एक ही गति होती है। किसी-न-किसी समय में वे अंततः नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी, सत्यवादी और झूठा, सज्जन एवं दुर्जन सभी को तो शरीर की दृष्टि से एक दिन मिट जाना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में तो मरने से पहले का कोई महत्व नहीं, तो मरने के बाद में कोई अस्तित्व नहीं रहता। जीवन सिर्फ दो अंधकार के बीच की पतली-सी रेखामात्र है। देर-अबेर में फट जाने वाले, मैले पड़ जाने वाले वस्त्रों का-सा मूल्य है, हमारे जीवन का, चाहे वह सादा हो या चमकदार। लेकिन क्या हमें इतना सोच लेने भर से इंद्र की तरह असंतोष नहीं होता? “मैं” को जानने की जिज्ञासा कर इससे समाधान नहीं हो रहा, ऐसा महसूस होने लगता है हमें।

फट जाने वाले, नष्ट हो जाने वाले वस्त्राभूषणों से युक्त प्रतिबिंब को “मैं” का स्वरूप जान लेने से हमारी जिज्ञासा शांत नहीं होती। क्योंकि इन्हें धारण करके हम अच्छे लगते हैं और उतार फेंकने पर कुरुप। इस तरह स्पष्ट है कि वस्त्र-आभूषण “मैं” का परिचय नहीं हो सकते। अपना वस्त्र फट जाने पर यह आभास नहीं होता कि मैं फट गया। वस्त्र-आभूषण उतार देने या पहने रहने पर “मैं” का अस्तित्व बना ही रहता है।

ठीक यही स्थिति शरीर के साथ भी है। वस्त्रों की तरह हमारा शरीर नित्य ही किसी-न-किसी रूप में नष्ट होता रहता है। मल,

शरीर से निकलने वाले दूषित तत्त्व—क्या हैं? नष्ट हुए शरीर का अवशेष। रसायनशास्त्री वैज्ञानिकों के प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि शरीर में नित्य असंख्यों कोश नष्ट होते हैं, असंख्यों ही नए पैदा होते हैं, इस तरह शरीर की दृष्टि से तो हम नित्य ही मरते हैं और नित्य ही जन्म लेते हैं। लेकिन “मैं” के अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इसी तरह शरीर का कोई अंग कट जाने पर कोई यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा कि उसका “मैं” कट गया। उँगली कट जाने पर, आँख फूट जाने पर यह तो मालूम होता है कि मेरे शरीर में कुछ क्षति हो गई है। लेकिन हमें यह विश्वास नहीं होता कि हम अपूर्ण हो गए। अपनी अज्ञात पूर्णता के अस्तित्व में हमारी सहज आस्था कम नहीं होती। “मैं हूँ”—यह भावना कभी नष्ट नहीं होती।

“मैं” की खोज में हम आगे बढ़ें, इससे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आखिर “मैं” को जान लेने की आवश्यकता क्यों है? बहुत-से लोग तो इस संबंध में कुछ सोचते-विचारते नहीं। ऐसे लोगों को खाने-पीने, मौज उड़ाने से फुरसत नहीं मिलती, लेकिन इस तरह की प्रवृत्ति पशुत्व की द्योतक है। क्योंकि शायद ही पशुओं के मन में अपने भूत-भविष्य के बारे में सोच-विचार करने की तरंग उठती हो। उनको अपने प्रकृति-प्रेरित कार्यों में लगे रहना ही प्रिय होता है।

कुछ बुद्धिमान कहे जाने वाले लोग इस महा प्रश्न में बेकार न लगकर अपना काम करना ही अधिक अच्छा समझते हैं। वे इस जटिल प्रश्न को सुलझाने में व्यर्थ श्रम करना अच्छा नहीं समझते। लेकिन हमें क्या करना चाहिए? यह निश्चय करना इससे भी कठिन है और बिना सही निश्चय के किए गए कार्य अंततः मनुष्य के लिए अशांति, असंतोष के कारण ही बनते हैं। कर्तव्य का निश्चय भी तभी हो सकता है, जब हम अपने असली अस्तित्व की जानकारी कर सकें। यदि हम शरीर ही हैं, तो फिर हमारे कर्तव्यों की सीमा भी शरीर तक ही सीमित रहेगी। किसी भी

कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय हमें वहीं तक करना होगा, जितना इसी जीवन से संबंध है। उदाहरणार्थ हमें किसी जगह एक माह रहना है, तो वहाँ वर्षों में बनने वाले भव्य भवन बनाने की योजनाएँ किस काम की? इसी तरह मैं, का अस्तित्व यदि शरीर से परे महान है, लंबा है, तो हमें अपने कर्तव्यों का निर्णय भी इसी आधार पर करना पड़ेगा।

तात्पर्य यह है कि अपने आप को जाने बिना जीवनपथ पर, कर्तव्य मार्ग पर हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। इसके अभाव में तो हमारी स्थिति ठीक वैसी होगी, जैसे कोई मनुष्य आँखें बंद किए जंगल में तेजी से दौड़ रहा हो। उससे पूछा जाए, “भाई तुम क्यों दौड़ रहे हो, तुम्हें कहाँ जाना है, कहाँ से आए हो?” और इसका उत्तर वह अपनी अजानकारी में दे, तो हम उसे पागल ही कहेंगे। क्या हमारी स्थिति भी अपने स्वरूप को जाने बिना कुछ ऐसी ही नहीं है? इसलिए ‘मैं’ के स्वरूप की जानकारी करना, इस संबंध में प्रारंभिक आधार खोजकर आगे बढ़ना नितांत आवश्यक है। इसके बिना हम अपने जीवन की सही रूपरेखा न बना सकेंगे, न अपने कर्तव्यों का, अपनी गति की दिशा का सही-सही निर्धारण ही कर सकेंगे। अपने स्वरूप को जानना जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

सचमुच जीवन का वास्तविक लाभ वे ही उठा पाते हैं, जो पहले अपने आप को जानने का प्रयत्न करते हैं। अपने को न जानने वाले व्यक्ति तो उन आधारहीन वस्तुओं की तरह हैं, जिन्हें वायु का झोंका, किधर भी बहाकर ले जा सकता है। ऐसे लोगों को संसार-प्रवाह में बलात् बहते रहना पड़ता है। □

“बिंदु में सिंधु समाया”

किसी की यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि सुख का निवास किन्हीं पदार्थों में है। यदि ऐसा रहा होता, तो वे सारे पदार्थ जिन्हें सुखदायक माना जाता है, सबको समान रूप से सुखी और संतुष्ट

रखते अथवा उन पदार्थों के मिल जाने पर मनुष्य सहज ही सुखी-संपन्न हो जाता। किंतु ऐसा देखा नहीं जाता। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्हें संसार के वे सारे पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, जिन्हें सुख का आराधक माना जाता है, किंतु ऐसे संपन्न व्यक्ति भी असंतोष, अशांति, अतृप्ति अथवा शोक-संतापों से जलते देखे जाते हैं। उनके उपलब्ध पदार्थ उनका दुःख मिटाने में जरा भी सहायक नहीं हो पाते।

वास्तविक बात यह है कि संसार के सारे पदार्थ जड़ होते हैं। जड़ तो जड़ ही हैं। उसमें अपनी कोई क्षमता नहीं होती। न तो जड़ पदार्थ किसी को स्वयं सुख दे सकते हैं और न दुःख। क्योंकि उनमें न तो सुखद तत्त्व होते हैं, न दुःखद तत्त्व और न उनमें सक्रियता ही होती है, जिससे वे किसी को अपनी विशेषता से प्रभावित कर सकें। यह मनुष्य का अपना आत्मतत्त्व ही होता है, जो उससे संबंध स्थापित करके उसे सुखद या दुःखद बना लेता है। आत्म-तत्त्व की उन्मुखता ही किसी पदार्थ को किसी के लिए सुखद और किसी के लिए दुःखद बना देती है।

जिस समय मनुष्य का आत्म-तत्त्व सुखोन्मुख होकर पदार्थ से संबंध स्थापित करता है, वह सुखद बन जाता है और जब आत्म-तत्त्व दुःखोन्मुख होकर संबंध स्थापित करता है, तब वही पदार्थ उसके लिए दुःखद बन जाता है। संसार के सारे पदार्थ जड़ हैं, वे अपनी ओर से न तो किसी को सुख दे सकते हैं और न दुःख। यह मनुष्य का अपना आत्म-तत्त्व ही होता है, जो संबंधित होकर उनको दुःखदायी अथवा सुखदायी बना देता है। यह धारणा कि सुख की उपलब्धि पदार्थों द्वारा होती है, सर्वथा मिथ्या और अज्ञानपूर्ण है।

किंतु खेद है कि मनुष्य अज्ञानवश सुख-दुःख के इस रहस्य पर विश्वास नहीं करते और सत्य की खोज संसार के जड़ पदार्थों में किया करते हैं। पदार्थों को सुख का दाता मानकर, उन्हें ही संचय करने में अपना बहुमूल्य जीवन बेकार में गँवा देते हैं। केवल इतना

ही नहीं कि वे सुख की खोज आत्मा में नहीं करते, अपितु पदार्थों के चक्कर में फँसकर उनका संचय करने के लिए अकरणीय कार्य तक किया करते हैं। झूठ, फरेब, मक्कारी, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि के अपराध और पाप तक करने में तत्पर रहते हैं। सुख का निवास पदार्थों में नहीं, आत्मा में है। उसे खोजने और पाने के लिए पदार्थों की ओर नहीं, आत्मा की ओर उन्मुख होना चाहिए।

पदार्थों का उपभोग इंद्रियों द्वारा होता है। इंद्रियों के सक्रिय और सजीव होने से ही किसी रस, सुख अथवा आनंद की अनुभूति होती है। जब तक मनुष्य समर्थ अथवा युवा बना रहता है, उसकी इंद्रियाँ सतेज बनी रहती हैं तब तक पदार्थ और विषयों का आनंद मिलता रहता है, पर जब मनुष्य वृद्ध अथवा अशक्त हो जाता है, उन्हीं पदार्थों में जिनमें पहले विभोर कर देने वाला आनंद मिलता था, एक-दम नीरस और स्वादहीन लगने लगते हैं। उनका सारा सुख न जाने कहाँ विलीन हो जाता है, वास्तविक बात यह है कि अशक्तता की दशा अथवा वृद्धावस्था में इंद्रियाँ निर्बल तथा अनुभवशीलता से शून्य हो जाती हैं, उनमें किसी पदार्थ का रस लेने की शक्ति नहीं रहती। इंद्रियों का शैथिल्य ही पदार्थों को नीरस, असुखद तथा निस्सार बना देता है।

वृद्धावस्था ही क्यों? बहुत बार यौवनावस्था में भी सुख की अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं। इंद्रियों में कोई रोग लग जाने अथवा उनको चेतनाहीन बना देने वाली कोई घटना घटित हो जाने पर भी उनकी रसानुभूति की शक्ति नष्ट हो जाती है। जैसे रसेंद्रिय-जिह्वा में छाले पड़ जाएँ, तो मनुष्य कितने ही सुस्वाद पदार्थों का सेवन क्यों न करे, उसे उसमें किसी प्रकार का आनंद न मिलेगा। पाचन क्रिया निर्बल हो जाए, तो कोई भी पौष्टिक पदार्थ बेकार हो जाएगा। आँखें विकारयुक्त हो जाएँ, तो सुंदर-से-सुंदर दृश्य भी कोई आनंद नहीं दे पाते। इस प्रकार देख सकते हैं कि सुख पदार्थ में नहीं, अपितु इंद्रियों की अनुभूति शक्ति में है।

अब देखना यह है कि इंद्रियों की शक्ति क्या है? बहुत बार ऐसे लोग देखने को मिलते हैं, जिनकी आँखें देखने में सुंदर, स्वच्छ तथा विकारहीन होती हैं, लेकिन उन्हें दिखलाई नहीं पड़ता। परीक्षा करने पर पता चलता है कि आँखों का तंत्र भी ठीक है। उनमें आने-जाने वाली नस-नड़ियों की अवस्था भी ठीक है। तथापि दिखलाई नहीं देता। इसी प्रकार अन्य इंद्रियाँ हाथ-पाँव, नाक-कान आदि की भी दशा हो जाती है। सब तरफ से सब वस्तुएँ ठीक होने पर भी इंद्रिय निष्क्रिय अथवा निरनुभूति ही रहती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रस की अनुभूति इंद्रियों की स्थूल बनावट से नहीं होती, अपितु इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है, जो रस की अनुभूति कराती है। वह वस्तु क्या है? वह वस्तु है चेतन, जो सारे शरीर और मन, प्राण में ओत-प्रोत रहकर मनुष्य की इंद्रियों को रसानुभूति की शक्ति प्रदान करती है। इसी सब ओर से शरीर में ओत-प्रोत चेतना को आत्मा कहते हैं। आनंद अथवा सुख का निवास आत्मा में ही है। उसी की शक्ति से उसकी अनुभूति होती है और वही जीव रूप में उसका अनुभव भी करती है। सुख न पदार्थों में है और न किसी अन्य वस्तु में। वह आत्मा में ही जीवात्मा द्वारा अनुभव किया जाता है।

मनुष्य की अपनी आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा से रहित वह एक मिट्टी का पिंड मात्र ही है। शरीर से जब आत्मा का संबंध समाप्त हो जाता है, तो वह मुरदा हो जाता है। शीघ्र ही उसे बाहर करने और जलाने-दफनाने का प्रबंध किया जाता है। संसार के सारे संबंध आत्मा द्वारा ही संबंधित हैं। जब तक जिसमें आत्म-भाव बना रहता है, उसमें प्रेम और सुख आदि की अनुभूति बनी रहती है और जब यह आत्मीयता समाप्त हो जाती है, वही वस्तु या व्यक्ति अपने लिए कुछ भी नहीं रह जाता। किसी को अपना मित्र बड़ा प्रिय लगता है। उससे मिलने पर हार्दिक आनंद की उपलब्धि होती है। न मिलने से बेचैनी होती है, किंतु जब किन्हीं कारणोंवश उससे

मैत्री भाव समाप्त हो जाता है अथवा आत्मीयता नहीं रहती, तो वही मित्र अपने लिए, एक सामान्य व्यक्ति बन जाता है। उसके मिलने-न-मिलने में किसी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं होता। बहुत बार तो उससे इतनी विमुखता हो जाती है कि मिलने अथवा दीखने पर अन्यथा अनुभव होता है। प्रेम, सुख और आनंद की सारी अनुभूतियाँ आत्मा से ही संबंधित होती हैं, किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति अथवा पदार्थ से नहीं। सुख का संसार आत्मा में ही बसा हुआ है। उसे उसमें ही खोजना चाहिए। सांसारिक विषयों अथवा वस्तुओं में भटकते रहने से वही दिशा और वही परिणाम सामने आएगा, जो मरीचिका में भूले मृग के सामने आता है।

मनुष्य की अपनी विशेषता ही उसके लिए उपयोगिता तथा स्नेह-सौजन्य उपार्जित करती है। विशेषता समाप्त होते ही मनुष्य का मूल्य भी समाप्त हो जाता है और तब वह न तो किसी के लिए आकर्षक रह जाता है और न प्रिय? इस बात को समझने के लिए सबके अधिक निकट रहने वाले माँ और बच्चे को ले लीजिए। माता से जब तक बच्चा दूध और जीवन रस पाता रहता है, उसके शरीर के अवयव की तरह चिपटा रहता है। उसे माँ से असीम प्रेम होता है। जरा देर को भी वह माँ से अलग नहीं हो सकता। माँ उसे छोड़कर कहीं गई नहीं कि वह रोने लगता है, किंतु जब इसी बालक को अपनी सुरक्षा तथा जीवन के लिए माँ की गोद और दूध की आवश्यकता नहीं रहती अथवा रोग आदि के कारण माँ की यह विशेषता समाप्त हो जाती है, तो बच्चा उसकी जरा भी परवाह नहीं करता। वह उससे अलग भी रहने लगता है और स्तन के स्थान पर शीशी से ही बहल जाता है। मनुष्य की विशेषताएँ ही किसी के लिए स्नेह, सौजन्य अथवा प्रेम आदि की सुखदायक स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं।

किंतु मनुष्य की इस विशेषता का स्रोत क्या है? इसका स्रोत भी आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है। बताया जा चुका है कि

आत्मा से असंबंधित मनुष्य शव से अधिक कुछ नहीं होता। जो शव है, मुरदा है अथवा अचेतन या जड़ है, उसमें किसी प्रकार की प्रेमोत्पादक विशेषता के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य के मन, प्राण और शरीर तीनों का संचालन, नियंत्रण तथा पोषण आत्मा की सूक्ष्म सत्ता द्वारा ही होता है। आत्मा और इन तीनों के बीच जरा-सा व्यवधान आते ही सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। सुंदर, सुगठित और स्वस्थ शरीर की दुर्दशा हो जाती है। प्राणों का स्पंदन तिरोहित होने लगता है और मन मतवाला होकर मनुष्य को उन्मत्त और पागल बना देता है।

ऐसी भयावह स्थिति में संसार का कोई व्यक्ति, कोई आत्मीय और कोई स्वजन संबंधी न तो प्रेम कर सकता है और न स्नेह-सौजन्य के सुखद भाव ही प्रदान कर सकता है। यह केवल मनुष्य की अपनी आत्मा ही है, जो उसका सच्चा मित्र, सगा-संबंधी और वास्तविक शक्ति है। इसी के कारण मनुष्य गुणों और विशेषताओं का स्वामी बनकर अपना मूल्य बढ़ाता और पाता है। जीवन में सुख, सौख्य के उत्पादन, अभिवृद्धि और रक्षा के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मा की ही शरण में रहे। उसे ही अपना माने, उससे ही प्रेम करे और उसे ही खोजने-पाने में अपने जीवन की सार्थकता समझे।

सुख का निवास किसी व्यक्ति, विषय अथवा पदार्थ में नहीं है। उसका निवास आत्मा में ही है। संसार के सारे पदार्थ जड़ और प्रभावहीन हैं। किसी को सुख-दुःख देने की उनमें अपनी क्षमता नहीं होती। पदार्थों अथवा विषयों में सुख-दुःख का आभास उनके प्रति आत्म-भाव के कारण ही होता है। आत्म-भाव समाप्त हो जाने पर वह अनुभूति भी समाप्त हो जाती है। हमारी आत्मा ही विभिन्न पदार्थों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें आकर्षक तथा सुखद बनाती है। अन्यथा संसार के सारे विषय, सारी वस्तुएँ, सारे पदार्थ और सारे भोग नीरस, निस्सार तथा निरूपयोगी हैं। जड़ होने से सभी कुछ कुरूप तथा अग्राह्य हैं।

जिस पदार्थ के साथ जितने अंशों में अपनी आत्मा घुली-मिली रहती है, उतने ही अंशों में वह पदार्थ प्रिय, सुखदायी और ग्रहणीय बना रहता है और आत्मा का संबंध जिस पदार्थ से जितना कम होता जाता है, वह उतना ही अपने लिए कुरुप और अप्रिय बनता जाता है। आनंद और प्रियता का संबंध पदार्थों से नहीं, स्वयं आत्मा से ही होता है। अस्तु, आत्मा को ही प्यार करना चाहिए, उसे ही तेजस्वी और प्रभावशील बनाना चाहिए, जिससे हमारा संबंध उसी से दृढ़ हो और उसके उपलक्ष्य में ही संसार को प्रेम और सुख दे सकें। हमारी अपनी आत्मा ही ज्ञान-विज्ञान का केंद्र है। सुख-शांति का मूल आधार है। उन्नति और समृद्धि का बीज उसी में छिपा है, स्वर्ग और मुक्ति का आधार वही है। कल्पवृक्ष बाहर नहीं, वरने अपनी आत्मा में ही अवस्थित है, आत्मा में ही सब कुछ है और आत्मा स्वयं ही सब कुछ है। उसे ही सर्वस्व और सारे सुखों का मूल एवं शांति का स्रोत मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए। जिसने आत्मा को अपना बना लिया, जिसने आत्मा को देख लिया, उसने सब कुछ देख लिया और जिसने आत्मा को प्राप्त कर लिया, उसने निश्चय ही सारे सुख, सारे सौख्य और सारे रस, आनंद एक साथ, एक स्थान पर ही सदा के लिए प्राप्त कर लिए। □

अपूर्णता से पूर्णता की ओर

यह सब कुछ अपूर्ण है। विश्व का कण-कण अपूर्णता से पूर्णता की ओर चल रहा है। प्रकृति अपूर्ण है, इसलिए उसके परमाणु गतिशील चंचल होकर पूर्णता की खोज में दौड़ रहे हैं। मानव समाज अपूर्ण है, उसे जो कुछ मिला है, उससे उसे अपना काम चलता नहीं दीखता, उसमें उसे संतोष नहीं। अपूर्णता में संतोष हो भी कैसे सकता है? इसलिए वह अधिक मात्रा में, अधिक उत्कृष्ट वस्तुएँ एवं परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हैं। आत्मा अपूर्ण है। वह परमात्मा का एक अणु मात्र ही तो है। इतने भर से उसे संतोष कैसे हो? वह अन्य सजातीयों के साथ मिलकर एक बड़ी सत्ता

बनना चाहता है, इसलिए दूसरों को प्रेम करता है। प्रेम के, आत्मीयता के आधार पर ही दूसरों को अपने में मिलाकर अधिक विस्तार की अनुभूति हो सकती है। आत्मा की भूख निरंतर प्रेम की है। वह प्रेम चाहता है, अधिक विस्तार में, अधिक उच्चकोटि का प्रेम उपलब्ध किस प्रकार हो, यह प्यास उसे निरंतर लगी रहती है और इस तृष्णा को बुझाने के लिए उससे जो कुछ बन पड़ता है, वह निरंतर करता रहता है।

उपनिषदों में परमात्मा को तीन भागों में विभक्त बताया है। एक जगत में, एक मानव समाज में, एक आत्मा में। उसे शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम् कहा गया है। इसे प्राप्त करने के लिए ही विश्वव्यापी प्रक्रिया चल रही है। जगत में जो अशांति है, चंचलता है, गतिशीलता है, वह इसलिए है कि इस मंजिल को पार करके शांति रूपी प्रकाश उपलब्ध हो। सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, अणु, परमाणु सभी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं। यह कहाँ जाना चाहते हैं? इनकी यात्रा का लक्ष्य क्या है? निश्चय ही यह अशांति-शांति की तलाश में चल रही है, जब सृष्टि का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है, तो प्रत्येक अणु पिंड शांत होकर परब्रह्म में लीन होकर अनंत शांति का अनुभव करने लगता है। प्रलय काल में यह जगत ऐसी ही शांति का अनुभव करता है।

मानव समाज का लक्ष्य शिवम् है। शिव अर्थात् कल्याण। मानव समाज का, मानव मनोभूमि का गठन इस प्रकार का है कि इसमें अनेक अभाव, दोष, अमंगल, कष्ट एवं दुःख भरे दीखते हैं। हर मनुष्य अपनी किसी-न-किसी समस्या को लेकर दुखी और असंतुष्ट है। इन अभावों और असंतोषों की निवृत्ति के लिए ही वह अपनी मति के अनुसार नाना प्रकार के प्रयत्न करता है। उसे सुख चाहिए। अधिक मात्रा में अधिक अच्छा, अधिक टिकाऊ सुख की उपलब्धि के लिए समाज में असाधारण हलचल होती रहती है। उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनाश की समस्याएँ उलझी रहती हैं, उन्हें सुलझाने के लिए प्रिय और अप्रिय कर्म एवं अकर्म होते

रहते हैं। शिव के रूप में, कल्याण के रूप में, ईश्वरीय प्रकाश समाज में मौजूद है। उसे जब उपलब्ध कर लिया जाता है, तब स्वर्गीय परिस्थितियों का भान होता है, उन्हें पाकर मनुष्य अपने आप को देवता के रूप में अनुभव करता है।

आत्मा के लिए जो प्रकाश प्राप्त करने योग्य है, वह है एकता का अद्वैत। जो आत्मा जितना ही अपने-पराये, मेरे-तेरे के फेर में है, दूसरों को अपने से जितना ही भिन्न मानता है, वह उतना ही दुखी है। उसे उतना ही दूसरों के प्रति भय और संदेह बना रहता है। प्रेम का मिलन जितना-जितना बढ़ता जाता है, उतना ही वह द्वैत समाप्त होने लगता है, जो अनेक प्रकार की आशंकाओं और उद्घोगों का मूल है, माँ और बेटे में जब आत्मीयता पैदा हो जाती है, तो दोनों में से किसी को भय नहीं रहता कि दूसरा मेरा कोई अनिष्ट करेगा, वरन् एक को देखकर दूसरे को प्रसन्नता होती है, हिम्मत बँधती है, संतोष और सुख प्राप्त होता है। परि यदि अपनी जेब में छुरी या पिस्तौल रखे हुए हो, तो उसकी पत्ती को उससे जरा भी भय नहीं लगता। कसाई दिनभर जीवों की हत्या करते हैं, पर उनके बच्चे उनके हाथ में छुरा लिए रहने पर भी नहीं डरते। क्योंकि प्रेम का प्रकाश जहाँ फैलता है, वहाँ अविश्वास और भय का अंधकार ठहर ही कहाँ सकता है?

प्रेम का नाम अद्वैत है। इसे ही भक्ति कहते हैं। ईश्वर को अवलंब बनाकर जो भक्ति की जाती है, वह उस ईश्वर तक सीमित नहीं रह सकती, जो उपासना की सुविधा के लिए एक प्रतिमा या प्रतीक के रूप में कल्पित की गई थी। पहलवान मुगदर की सहायता से अपनी भुजाओं का बल बढ़ाता है। वह भुजबल जीवन के विस्तृत क्षेत्र में अनेक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसा नहीं है कि वह भुजबल केवल मुगदर उठाने तक ही सीमित रहे। यदि कोई पहलवान भारी मुगदर तो उठा लेता हो, पर उसकी भुजाएँ और कुछ पराक्रम करने में असमर्थ हों, तो लोग उसे पहलवान नहीं कहेंगे, वरन् कोई

जादूगर समझकर उस मुगदर उठाने वाले की क्रिया में कोई चालाकी होने का संदेह करने लगेंगे। यही बात प्रेम के संबंध में भी है। ईश्वर भक्त अपने प्रेमभाव को बढ़ाने के अभ्यास के रूप में भक्ति की साधना करता है। इसमें जितनी ही सफलता मिलती जाती है, उसी अनुपात में आत्मा का प्रेम प्रकाश प्राणिमात्र के ऊपर फैलना आरंभ हो जाता है। उसे सब कोई अपने प्रेमी ही दीखते हैं। प्रेमी भी नहीं, आत्मीय ही लगते हैं। फिर उसे सब कुछ अपना ही, अपने में ओत-प्रोत ही दीखने लगता है। यही अद्वैतभाव है। वेदांत सिद्धांत में आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के आधार पर इसी आत्मीयता और एकता का शिक्षण किया गया है, मुक्ति का यही उपाय है। तुच्छता के, संकीर्णता के, अनुदारता के, वासना और तृष्णा के, लोभ और मोह के बंधन जितने ही शिथिल होते जाएँगे, उतनी ही मुक्ति समीप आती जाएगी। द्वैत में ही बंधन और अद्वैत में ही मुक्ति है। प्रेम को परमात्मा कहा गया है—रसो वै सः—वह परमात्मा प्रेम स्वरूप है, अपनी अंतरात्मा यदि स्वार्थ और मोह से ऊपर उठकर सच्चे प्रेम को अपना ले, तो उसके लिए परमात्मा प्रत्यक्ष ही है। उसकी मुक्ति उसके साथ ही है।

जिस प्रकार द्वैत को घटा या मिटाकर आत्मा अद्वैत तत्त्व की, प्रेमास्पद परमात्मा की, समीपता का असीम आनंद इसी जीवन में अनुभव कर सकता है और जीवन मुक्ति के सुख को प्रत्यक्ष कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए यह भी सरल है कि वह स्वर्गीय भूमिका में विचरण करने वाले देवत्व से अपने आप को ओत-प्रोत अनुभव करे। दुःखों और अभावों से उत्पन्न होने वाली खिन्नता पर विजय प्राप्त करके ही जीवनयापन क्रम की परेशानी एवं नीरसता को हटाया जा सकता है।

हमें यह मानकर चलना होगा कि दुःख भी मानव जीवन का एक तथ्य है, उससे रहित होकर जी सकना किसी के लिए संभव नहीं। वह अनिवार्य ही नहीं, उपयोगी एवं आवश्यक भी है। सुख

की ही तरह वह भी जीवन के विकासक्रम में सहायक होता है। केवल सुख-ही-सुख प्राप्त हो, तो वह उसकी उपयोगिता भी न समझ सकेगा और वह एक भार मात्र बनकर रह जाएगा। पकवान एवं मिष्टान का आनंद उसे आता है, जिसे रुखी-सूखी रोटियों से भी पाला पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति सदा मिठाई और पकवान ही खाता रहे, तो उसके लिए उनमें क्या रस हो सकता है? गरीबी की अनुभूति के साथ धन-लाभ का सुख संबंधित है। यदि कोई बालक ऐसे घर में जन्मे जहाँ सोना-चाँदी के ढेर जमा रहते हों, तो उसे थोड़ा और धन-लाभ होने पर क्या प्रसन्नता होगी? यदि धनप्राप्ति के सुख का आस्वादन करना हो, तो गरीब की परिस्थितियों में से गुजरना आवश्यक है।

सफलता में, विजय में और उन्नति में आनंद उपलब्ध हो सके, इसके लिए असफलता, पराजय, अवनति के झकझोरे आवश्यक हैं। स्वास्थ्य भी परमात्मा की कोई देन है, इसे रोगी होने पर ही कोई व्यक्ति भली प्रकार समझ सकता है, अन्यथा एक बलवान आदमी तो अपने नीरोग शरीर का कोई मूल्य क्या समझेगा? उसके लिए तो वह एक साधारण-सी अनायास प्राप्त हुई तुच्छ-सी चीज है। दुःख एक कसौटी है जिस पर कसकर सुखों के मूल्य को समझ सकना संभव होता है।

यदि हमारे हाथ में दुःख का पात्र न होता, तो परमात्मा की दया-भिक्षा हम किसमें प्राप्त करते? अपूर्णता यदि न होती, अभाव यदि न रहते, तो पराक्रम और पुरुषार्थ के जाग्रत होने का अवसर ही न आता और उसके बिना जीव की उन्नति का क्रम ही रुक जाता। इस विश्व में स्वर्गीय पदार्थों एवं परिस्थितियों की कमी नहीं, पर वे प्राप्त उन्हीं को होती हैं, जो उनका मूल्य कष्ट सहन करके चुकाने को तैयार होते हैं। साधना के द्वारा, तपस्या के द्वारा ही ईश्वर को प्राप्त किया जाता है। विद्या पढ़ने, धन कमाने, बलवान बनने, सुसंस्कृत होने के लिए हर किसी को कष्टसाध्य उपायों का अवलंबन करना

होता है, जो इससे बचना चाहते हैं, वे अपनी पात्रता को सिद्ध नहीं कर पाते और उन दिव्य उपहारों से वंचित रह जाते हैं, जो केवल पराक्रमी विजेताओं के लिए ही सुरक्षित रखे रहते हैं।

अभावों और कष्टों को एक प्रेरक शक्ति एवं उद्दीपक अग्नि के रूप में, अपने पुरुषार्थ के लिए उपस्थित हुई चुनौती के रूप में स्वीकार करने की अपेक्षा जो लोग निराश, खिन्न एवं व्यग्र हो जाते हैं, मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और अपने आप को अभाग मानने लगते हैं, वे दुःख के देवता का अपमान करते हैं। सुख, बुखार के दैत्य की तरह है, जो जब उत्तरता है, तो देह थकी-मांदी-सी लगती है, पर दुःख उस राजा की तरह है, जो जहाँ ठहरता है, वहीं कुछ-न-कुछ उपहार देकर जाता है। संसार के जितने भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने भी इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम छोड़ा है, उनमें से हर एक को दुःखों की अग्नि में तपना पड़ा है। योगीजन इसे स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करते हैं। अपरिग्रह, तितिक्षा और तपस्या की अग्नि में अपने को तपा-तपाकर अधिक उज्ज्वल और प्रकाशवान बनाते चलते हैं। यदि वे इस मार्ग पर न चलें, विलासी और ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करें, तो निश्चय ही उन्हें उन आध्यात्मिक लाभों से वंचित रहना पड़ेगा, जो तपस्वी और योगियों को प्राप्त होते हैं।

ईश्वरीय प्रकाश को तीनों दिशाओं से हमें ग्रहण करना होगा। अद्वैत भावना का, प्रेमतत्त्व का विस्तार करके आत्मा को परमात्मा की प्राप्ति होगी। समाजव्यापी अभावों और दुःखों को, पराजयों एवं असफलताओं को, हानि-लाभ, मान-अपमान, राग-द्वेष आदि द्वंद्वों को एक कटु आवश्यकता के रूप में स्वीकार करना चाहिए। उनसे खिन्न होने की अपेक्षा अपने मानसिक एवं बाह्य क्षेत्र में अधिक सावधान होने की प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम दुःखों को भी सुख के समान ही जीवन का एक आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्व मान लें और उससे मन को गिरने देने की भूल न करें, तो हमारा सामाजिक जीवन स्वर्गीय आनंद से परिपूर्ण हो सकता है।

प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ अपनी अपूर्णता दूर करके पूर्णता प्राप्त करने के लिए तीर की तरह दौड़ा जाता है। ऐसी दशा में किसी पदार्थ की यहाँ तक कि शरीर की भी एक स्थिति में, एक आधिपत्य में रहने की आशा कैसे की जा सकती है? यह सभी कुछ दौड़ रहा है, यह सभी कुछ चंचल है। लक्ष्मी को चंचला कहा गया है। रूप, विवेक, धन, यश, ऐश्वर्य, सत्ता, बुद्धि, चातुर्य यह सभी चंचला लक्ष्मी के अंग हैं। परिवार के परिजन, मित्र और कुटुंबी, स्त्री और पुत्र, स्वजन और संबंधी इसमें से किसका शरीर, किसका मन कब तक अपने को प्रिय लगने की, स्थिर रहने की स्थिति में रहेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। फिर इस दौड़ती हुई रेल के पीछे गले में रस्सी बाँधकर घिसटते चलने से क्या लाभ?

इन तीनों तथ्यों को यदि समझ लिया जाए, तो जगत में अशांत, चंचल स्वभाव से परिचित होकर मोह-बंधनों से छूट सकना, हमारे लिए संभव हो सकता है। दुःखों के डर से जो नारकीय यातनाएँ उठानी पड़ती हैं, उन्हें स्वर्गीय परिस्थिति में बदला जा सकता है, द्वैत भावना से उत्पन्न परायेपन का अज्ञान जो जीव को ईर्ष्या, द्वेष एवं पाप, ताप से जलाता रहता है, उससे भी निवृत्ति हो सकती है।

ईश्वरीय प्रकाश शांत, शिवम् और अद्वैत है। यदि हम चाहें, तो उसे प्राप्त कर सकते हैं और मानव जीवन को धन्य बना सकते हैं।



क्या आत्म-कल्याण के लिए गृहत्याग आवश्यक है?

साधनावस्था के सामान्य कार्यक्रम परिवार के सानिध्य में, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में रहते पूरे किए जाते हैं। आंतरिक दोषों के समाधान के लिए यही स्थिति उचित भी है, क्योंकि सांसारिक जीवन में ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के अवसर आते हैं। उनसे लड़ना और निबटना इन्हीं परिस्थितियों में रहकर संभव है। तैरना उसी को आएगा, जो जल में घुसेगा। बेशक

उसमें डुबकी लगने का खतरा भी है, पर तैरना सीखना हो तो यह जोखिम भी उठानी ही पड़ेगी। जो डुबकी लगने के डर से पानी से दूर ही रहे, वह तैरना क्या सीखेगा?

जो लोग सोचते हैं कि सांसारिक जीवन में अनेक दोष हो सकते हैं, इसलिए जंगल में, एकांत में, विरक्त बनकर रहना चाहिए, उनका रास्ता सुगम तो अवश्य है, कारण कि एकाकी जीवन में बुरी परिस्थितियों के कारण बुराई बन पड़ने का अवसर कम है, पर साथ ही यह जोखिम भी है कि मनोभूमि दुर्बल रह जाती है। प्रलोभन का अवसर आने पर ऐसे एकांतवासी ही आसानी से फिसल सकते हैं, क्योंकि उन्हें बुराई से लड़ने का और उस पर विजय प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिला, जिसने युद्धक्षेत्र देखा ही न हो, ऐसा सैनिक आसानी से हटाया जा सकता है, पर जो आएदिन लड़ता ही रहता है, वह शत्रु की चाल को और उसकी काट को भली प्रकार जानता है। ऐसा अनुभवी सैनिक आसानी से नहीं हटाया जा सकता। गृहस्थ अनुभवी सैनिक है। विरक्त तो परीक्षा से डरकर अपनी जान छिपाए बैठा है। वह कठिन प्रसंग आने पर उत्तीर्ण हो जाएगा, इसकी आशा कैसे की जाए?

भारतीय अध्यात्मविद्या की यही परंपरा है कि आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास का सारा कार्यक्रम परिवार के साथ रहकर सात्त्विक आजीविका कमाते हुए पूर्ण किया जाए। इसके बाद यदि किसी की ऐसी परिस्थिति हो कि अपनी पूर्णता का लाभ जनता को मार्गदर्शन करते हुए दे सके, तो परिव्राजक या संन्यासी हो जाना चाहिए।

शास्त्र में ज्ञान-वृद्ध ब्राह्मण को ही संन्यास लेने का अधिकारी माना गया है। ये दोनों शर्तें मनुष्य की पूर्णता का प्रमाण हैं। ज्ञान-वृद्ध वह व्यक्ति होता है, जो उच्च शिक्षा, विशाल स्वाध्याय, चिंतन-मनन, तत्त्वदर्शन और आत्म-ज्ञान द्वारा अपने अंतःकरण का पूर्ण समाधान कर चुका हो। अपने संशय, भ्रम, मोह, अज्ञान का पूर्णतया

निवारण कर चुका हो तथा अन्य व्यक्तियों की आंतरिक एवं सांसारिक जीवन की समस्याओं को धार्मिक एवं व्यावहारिक समन्वय के आधार पर हल करने की क्षमता जिसने प्राप्त कर ली हो। ऐसा ही व्यक्ति संसार के मार्गदर्शन के लिए, धर्मोपदेश के लिए अधिकारी कहा जा सकता है, उसे ही परिव्राजक बनना चाहिए, उसे ही संन्यास लेना चाहिए।

संन्यास ग्रहण करने की दूसरी शर्त है—ब्राह्मण होना। यहाँ ब्राह्मणत्व का तात्पर्य जाति या कुल से नहीं, गुण, कर्म, स्वभाव से है। ब्रह्मपरायण, वासनाओं और तृष्णाओं के विजयी, काम, क्रोध, लोभ, मोह से विरत, उदारमना, अपरिग्रही, लोकसेवी, सत्कर्मपरायण, व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते हैं। ऐसे ही लोग किसी को उपदेश या ज्ञान देने के अधिकारी भी हैं। जिनका आंतरिक और बाह्य जीवन अपने आप में ही अपूर्ण एवं कलुषित है, वे किस मुँह से संसार का धार्मिक नेतृत्व कर सकते हैं। इसलिए ऐसे लोगों को, ब्राह्मणेतर वर्ग वालों को संन्यास लेने का अनधिकारी बताया गया है।

जो लोग साधना के लिए, आत्म-उद्घार के मार्ग पर बढ़ने के लिए संन्यास लेते हैं, वे भारी भूल करते हैं। यह कार्य तो उन्हें पारिवारिक जीवन में रहते हुए करने का है। जब पूर्ण परिपक्व स्थिति प्राप्त हो जाए, अपने में किसी प्रकार की कोई कचाई या त्रुटि दिखाई न पड़े और अंतरात्मा यह स्वीकार करे कि हमें अब अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रहा है, धर्म, प्रवचन एवं ज्ञानदान के योग्य पूर्ण परिपक्वता प्राप्त हो चुकी है, तो ऐसे व्यक्ति संन्यास ग्रहण करके परिव्राजक बन सकते हैं। परिव्राजक बनने के लिए आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर चुकने के अतिरिक्त दो सांसारिक प्रतिबंध भी हैं। एक यह कि स्वास्थ्य भ्रमण के योग्य हो। परिव्रज्या के कारण अस्त-व्यस्त रहने वाले आहार-विहार को सहन कर सके। दूसरे धर्मपत्नी की आंतरिक स्वीकृति प्राप्त हो। उसे भी अपने साथ-साथ वानप्रस्थ में रहकर इस मनोभूमि की बना लेना आवश्यक

है कि पति के कार्य के महत्व को समझते हुए, मोह निवृत्त मन से उसे स्वीकृति दे। यह स्वास्थ्य संबंधी तथा पत्नी की स्वीकृति संबंधी समस्या हल न हो तो भी जो लोग आवेश में संन्यास ले लेते हैं, उनका लक्ष्य पूरा नहीं होता। ये दोनों बातें अभिशाप की तरह उनके पीछे पड़कर मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती हैं।

संन्यास की स्थिति मानव जीवन की सर्वांगीण पूर्णता की घोषणा है और इसका प्रमाण है कि इस व्यक्ति ने सभी गुत्थियाँ शांति और मर्यादापूर्वक सुलझा ली हैं। अब यह इस स्थिति में है कि औरों का मार्गदर्शन कर सके। इतनी बड़ी सफलता प्राप्त करने वाले व्यक्ति के चरणों में जनसमाज सच्चे हृदय से मस्तक झुकाता है। उन्हें देव श्रेणी में गिना जाता है। ऐसे दस-बीस भी संन्यासी जिस देश में होते थे, उनकी कीर्ति चारों ओर फैल जाती थी। संन्यासी का आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए हर कोई लालायित रहता था। संन्यासी के दर्शन मात्र को लोग पुण्य मानते थे, क्योंकि वह जीवन की सर्वांगीण पूर्णता का प्रतीक जो था।

साधना करने के लिए अपरिपक्व मन, बुद्धि के लोगों का भगवा कपड़ा पहनकर संन्यासी हो जाना और अपनी अपूर्णताओं से वेष को कलंकित करते फिरना, संन्यास धर्म के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार है। ऐसे व्यक्ति अपराधियों की श्रेणी में रखने योग्य हैं, इश्वरप्राप्ति तो उन्हें होनी ही कहाँ है?

आज साधु-संन्यासियों का समाज इतना बढ़ जाना और उनका स्तर इतना गिर जाना, प्रत्येक धर्मप्रेमी के लिए बड़ी चिंता एवं वेदना का विषय है। उनमें से जो थोड़े-से सच्चे साधु भी हैं, वे भी इन भिखर्मणों की भीड़ में अपना प्रभाव खोते चले जा रहे हैं। पूर्वकाल में साधु-महात्मा को देखकर स्वभावतः ही हर व्यक्ति में उनके त्याग के प्रति श्रद्धा का संचार होता था, पर आज ठीक उसके विपरीत स्थिति है। त्याग, साधना और भावना ऊँची होते हुए भी वेष देखकर, तो पहले लोग नाक-भौं ही चढ़ाते हैं, पीछे अधिक

व्यक्तिगत परिचय होने पर भले ही कोई सम्मान करें, अब भिक्षा भी कोई सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता और न ऐसा सात्त्विक अन्न ही उपलब्ध है, जिसे भिक्षा में लेकर खाने वाले की बुद्धि सात्त्विक बनी रहे। जंगल, वन भी कट गए, जहाँ कंदमूल, फल पैदा होते थे तथा जहाँ गाएँ पालकर दूध भी उपलब्ध हो सकता था। अब तो वे ही जंगल किसी प्रकार बच रहे हैं, जो सब प्रकार साधनहीन हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए इन बातों की भी अब खैर नहीं।

इन परिस्थितियों को देखते हुए अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिए गृहत्याग या संन्यास धारण करने की बात नहीं सोचनी चाहिए। उसके लिए यही उचित है कि अपनी सात्त्विक जीविका कमाते हुए अपने परिजनों के पालन-पोषण का पुनीत कर्तव्य पालन करते हुए, अपने दोष-दुर्गुणों के शमन करने एवं ईश्वर उपासना में लगने का प्रयत्न करें। यही मार्ग सीधा, सरल और सुगम है। □

आत्म-बल हमारी सबसे बड़ी वैभव-विभूति

ईश्वर की कृपा स्वरूप, उनके कृपा और अनुग्रह के रूप में, एक ही पुरस्कार मिलता है—‘आत्म-बल’। यह वह कल्पवृक्ष है, जिसके नीचे बैठकर हर कामना के समाधान का मार्ग मिल सकता है। यह वह पारस है, जिसको छूकर छोटी परिस्थिति में पड़ा हुआ लोहे जैसा लगने वाला व्यक्ति भी स्वर्ण जैसा शोभायमान और बहुमूल्य बन सकता है। जिसके पास आत्म-बल है, उसके पास कभी किसी वस्तु की कमी नहीं रह सकती।

गायत्री महामंत्र में सविता देवता के वरेण्यं वर्ण की याचना अथवा उपासना की जाती है। तेजस्वी परमात्मा हमें ब्रह्मतेज प्रदान करेंगे, तो फिर और कमी किस बात की रह जाएगी? स्वर्ण मुद्रा के बदले संसार भर में कहीं भी, कोई भी, वस्तु खरीदी जा सकती है। आत्म-तेज के बदले में भी हर क्षेत्र में प्रगति का पथ प्रशस्त किया

जा सकता है। जिसे यह दैवी वरदान मिल गया, वह धन्य हो गया और जिसे इससे वंचित रहना पड़ा, उसके लिए प्रचुर सुविधा सामग्री होते हुए भी पग-पग पर भय, चिंता, निराशा, आशंका, बेचैनी के दृश्य दृष्टिगोचर होते रहेंगे। उसे कभी चैन की नींद सोने का अवसर न मिलेगा।

अपना स्वरूप, अपना वर्चस्व, अपना महत्त्व न समझने का नाम ही अज्ञान है। बहुत पढ़ा होने पर भी कोई व्यक्ति अज्ञानी ही रहेगा, यदि उसे आत्म-बोध नहीं हुआ। ऐसा अज्ञानी अंधकार में भटकता है और उपनिषद् की भाषा में 'असुर्या' नामक तमसाच्छन्न नरक में दुःख-दैन्य की यातना सहता हुआ, रोता-कलपता, जीवन-भार वहन करता है।

यदि हममें आत्मा है—अपने भीतर आत्म-तत्त्व विद्यमान है, तो फिर उसका स्वाभाविक गुण आत्म-बल भी अपने भीतर होना ही चाहिए। उसे कहीं बाहर ढूँढ़ना नहीं पड़ता और न कहीं बाहर से लाना पड़ता है, वह तो अजम्ब मात्रा में अपने ही भीतर विद्यमान है। केवल उसे उभारना, निखारना, सँभालना भर है। इतने भर प्रयत्न को यदि साधना कहा जाता हो तो उसे कहने, मानने में भी कोई हर्ज नहीं है। इस साधना का यही स्वरूप है कि हम अपने परम शक्तिशाली स्वरूप की अनुभूति करें और यह समझें कि अपने चारों ओर जो वातावरण घिरा हुआ है, वह मकड़ी के जाले की तरह अपना ही कर्तृत्व है। हमारी भीतरी स्थिति ही बाहरी क्षेत्र में सुख-दुःख अथवा सुविधा-असुविधा का रूप धारण कर धूमती रहती है। हम कारण हैं और परिस्थितियाँ करण। अपनी मान्यताएँ और गतिविधियाँ ही हैं, जो आरोह-अवरोह बनकर हमें हँसाने-रुलाने के लिए छाया-चित्र की तरह आती-जाती रहती हैं।

हम आज जैसे भी कुछ हैं, अपनी ही मान्यताओं के कारण बने हैं। अपना आंतरिक ढाँचा बदल दें, तो बाह्य परिस्थितियों का स्वरूप बदलने में तनिक भी देर न लगेगी। भवसागर के बंधन, जंजीरें

किसी और ने नहीं बाँधी हैं, उन्हें हमने स्वयं ही बनाया और धारण किया है। माया नाम की भवबंधन में बाँधने वाली सत्ता का अस्तित्व संसार में अन्यत्र कहीं नहीं है, उसे अपनी प्रतिगामी मान्यताओं की प्रतिक्रिया मात्र समझना चाहिए।

गुण, कर्म, स्वभाव की दुर्बलताएँ ही हमारी प्रगति में मुख्य बाधाएँ हैं। यदि अपने में सद्गुणों का, सत्कर्मों का, सत्प्रवृत्तियों का, सद्स्वभाव का बाहुल्य हो, तो निश्चित रूप से संपदाएँ और विभूतियाँ चारों ओर से खिंचकर हमारे आस-पास जमा होने लगेंगी। पुष्ट खिलता है, तो उस पर भ्रमर, मधु-मक्खी, तितली अनायास ही मँडराने लगते हैं। मनुष्य का अंतःकरण परिष्कृत हो, व्यक्तित्व उत्कृष्ट बने, तो कोई कारण नहीं कि उसे प्रगतिपथ पर अग्रसर होने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, व्यक्तियों और सूक्ष्म चेतनाओं का सहयोग न मिले। विभिन्न क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति कर सकने वाले व्यक्तियों की सफलताओं का मूल कारण यदि बारीकी से तलाश किया जाए, तो एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उन्होंने अपने सद्गुणों को बढ़ाया, उनसे गतिविधियाँ सुव्यवस्थित बनी, इससे दूसरे लोग प्रभावित हुए, उन्हें प्रामाणिक माना। प्रामाणिकता को सहयोग मिलता है। जिसे जनश्रद्धा एवं सहयोग उपलब्ध है, उसके लिए प्रगतिपथ पर आगे बढ़ने के मार्ग में आने वाले अवरोध तृण के समान हैं। वे दीखते भर हैं, सामने आते ही चूर-चूर हो जाते हैं। आत्मा की शक्ति इतनी प्रचंड है कि उसके सामने किसी संकट का ठहर सकना संभव नहीं।

आत्म-बल का प्रकाश ही नगण्य से मानव जीवन को विभूतिवान बनाता है। जीवन की लाश ढोने वाले करोड़ों नर-पशुओं के बीच जो भी अपना अनुकरणीय प्रकरण इतिहास में पृष्ठों पर छोड़ सकने वाले थोड़े से नर-रत्न होते हैं, उनमें दूसरों की अपेक्षा एक ही विशेषता—आत्म-बल की अधिकता होती है। इसके बिना कोई तनकर खड़ा नहीं हो सकता, न कोई महत्त्वपूर्ण

निर्माण करता है और न उन महान कार्यों का संपादन करने का साहस कर सकता है, जो मानव जीवन को आनंद और उल्लास से परिपूर्ण प्रकाशवान एवं धन्य बनाते हैं। आत्म-बल ही वह जीवन-तत्त्व है, जो साँस लेते हुए जीवित या मृत के टिड़ी दल में से किसी सजीव को सूर्य-चंद्र की तरह चमकने में समर्थ बना सकता है।

आत्म-बल का रत्न-भंडार आत्म-चेतना की भूमिका में जाग्रत होने पर ही उपलब्ध होता है। 'मैं आत्मा हूँ' यह मान्यता यदि अंतरात्मा के गहन अंतरंग तक प्रवेश कर जाए, तो व्यक्ति सचमुच यह अनुभव करने लगे कि वह शरीर एवं मन से ऊपर उठी हुई ईश्वरीय पवित्रता एवं महानता से सुसंपन्न आत्मा है। उसे अपनी गतिविधियाँ आत्मा के कर्तव्य और गौरव के अनुरूप बनानी हैं, तो इस भावना की प्रतिष्ठनि उसके रोम-रोम में गूँज उठेगी और नए सिरे से उसे विचार करना होगा कि उसका जीवनलक्ष्य, कर्तव्य एवं गंतव्य मार्ग कहाँ है? इन प्रश्नों का उत्तर कठिन नहीं है। हर अंतःकरण में इन प्रश्नों का उत्तर मौजूद हैं। उसे किसी गुरु या शास्त्र से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

आत्म-चेतना की भूमिका में अंतःकरण जाग पड़े, तो इसे महानतम सौभाग्य कहना चाहिए। ईश्वर का यही सबसे बड़ा अनुग्रह, देवताओं का सबसे बड़ा वरदान और गुरुजनों का यही सबसे बड़ा आशीर्वाद है। नर-तन की सार्थकता इस महान जागरण पर ही अवलंबित है। जो इस भूमिका में जगा उसी ने अपने अंतरंग और बहिरंग जीवन को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाला और उसी की गतिविधियाँ आदर्शवादिता का महान प्रकाश बनकर इतिहास के पृष्ठों पर चमकीं। स्वाति बूँद पड़ने से सीप में मोती, केले में कपूर, बाँस में वंशलोचन, सर्प में मणि उत्पन्न होने की बात सुनी गई है।

ये बातें प्रामाणिक हों चाहे अप्रामाणिक, पर यह नितांत सत्य है कि आत्म-चेतना की भूमिका में जगा हुआ मनुष्य नर से नारायण

बन जाता है। पपीहे की प्यास स्वाति नक्षत्र का जल पीने से शांत होती सुनी गई है, कह नहीं सकते कि यह कहाँ तक ठीक है, पर यह नितांत सत्य है कि आत्मा की प्यास तभी बुझती है, जब अंतःकरण आत्म-चेतना की भूमिका में जाग जाता है और यह अनुभव करता है कि मैं शरीर और मन नहीं, वरन् अविनाशी आत्मा हूँ। मुझे शरीर और मन की लपक बुझाते रहने के लिए नहीं, वरन् आत्मा के गौरव की कथा कहने के लिए इस बहुमूल्य मानव जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग करना है।

इस धर्म संकट की घड़ी में आत्मा को महाभारत के अर्जुन की स्थिति में खड़ा होना होता है। चिर परिचित, चिर अभ्यस्त पुरानी मान्यताएँ एवं गतिविधियों के प्रति मोह, ममता का होना स्वाभाविक है। अर्जुन अपने चारों ओर स्वजन, संबंधियों से घिरा हुआ और खड़ा हुआ देखता है। वे सभी विरोधी बने हुए हैं। इनसे कैसे लड़ा जाए? यह मोह अर्जुन को आ घेरता है और वह गांडीव को नीचे रखकर बैठ जाता है। आत्म-भूमिका में जाग्रत हुआ व्यक्ति अपनी वर्तमान गतिविधियों पर दृष्टि डालता है, तो वे निरर्थक बाल-क्रीड़ा मात्र दीखती हैं। जरा-सा पेट, थोड़े-से परिश्रम से गुजर की संभावना फिर अधिकाधिक धन कमाने के पीछे जीवनलक्ष्य के लिए अनावश्यक कर्तव्यों की उपेक्षा क्यों? कुत्ते द्वारा सूखी हड्डी चबाते जाने पर अपने ही जबड़ों का रक्त पीकर उसे जो प्रसन्नता होती है, वैसा ही अनुकरण इंद्रिय-वासना के लिए जीवन-तत्त्व को निचोड़ते हुए करते रहने में क्या बुद्धिमत्ता है?

अनेक दोष-दुर्गुणों और अवांछनीय क्रिया-कलापों में संलग्न जीवनक्रम से इतना मोह किसलिए? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कर्तव्य कहता है, पुराने ढर्णे को तोड़ो, इससे लड़ो और अवांछनीय को हटाओ, पर अर्जुन का मोह उस पुराने, चिर अभ्यास, चिर-परिचित ढर्णे को छोड़ने, तोड़ने का साहस नहीं कर पाता और सोचता है जैसा चल रहा है, वैसा ही चलने दिया जाए। कर्तव्यपालन यदि इतना

झंझट भरा है—आत्म-जागरण का यदि इतना महँगा मूल्य चुकाना पड़ता है, तो उसे छोड़ ही क्यों न दिया जाए।

गीता ग्रंथ आत्मा की इसी समस्या को सुलझाने के लिए लिखा गया है। भगवान् ने अनेक तर्कों और तथ्यों के आधार पर अर्जुन को समझाया कि—“यह चिर-परिचित गतिविधियाँ कुटुंबी, संबंधियों की तरह अति निकटवर्ती और प्रिय बन गई हैं, फिर भी इन्हें हटाया जाना आवश्यक है। यदि इन्हें जहाँ-के-तहाँ यथावत रहने दिया गया, तो अनीति और पाप का ही दौर-दौरा बना रहेगा। साधना-समर में अपने ही अज्ञान असुर से तो लड़ना पड़ता है, यदि इस संघर्ष-संग्राम से इनकार किया गया, तो वीर क्षत्रियों को मिलने वाले श्रेय और स्वर्ग से वंचित रहना पड़ेगा। कर्तव्य धर्म के साथ संघर्ष जुड़ा हुआ है। यदि संघर्ष से मुख मोड़ना है, तो कर्तव्य धर्म भी छोड़ना पड़ेगा। अतएव हे अर्जुन, चिर-परिचितों का चिर-सहचरों का मोह छोड़ और वह कर जिसमें श्रेयस् की साधना संपन्न होती है।”

आत्म-बल उपलब्ध करने की साधना करने वाले हर साधक को अर्जुन का अनुसरण करते हुए अग्नि परीक्षा में होकर गुजरना होता है। उसे सबसे पहला काम आत्म-निरीक्षण द्वारा अपनी दुष्प्रवृत्तियों और मूर्खताओं का निराकरण करना होता है। जो गतिविधियाँ शरीर और मन को प्रसन्नता दें, पर आत्मा को भूखा मारें, उन्हें मूर्खता नहीं, तो और क्या कहा जाए? जो प्रवृत्तियाँ नश्वर संसार की विनोदात्मक हलचलों में रस लेने के लिए प्रेरित करती रहें, उसके लिए कुकर्म करने तक के लिए फुसलावे और आत्मा को नारकीय यातनाएँ सहने को विवश करें, उन्हें मूर्खता नहीं तो और क्या कहें? विवेक भूमिका में जाग्रत आत्मा यदि अपनी मूर्खताओं को भी न हटा सका, तो उसके जागरण का आखिर प्रयोजन ही क्या रहा?

आत्म-बल वे उपार्जित करते हैं, जो आत्म-समीक्षा और आत्म-सुधार के लिए अपनी चिर अभ्यस्त गतिविधियों को उलट-पुलट

डालने का साहस कर सकें और मार्ग में जो उपहास, विरोध, कष्ट एवं अवरोध सहना पड़े, उसे धैर्यपूर्वक सहन कर लें। भौतिक एवं आत्मिक प्रगति के लिए, संपत्तियों और विभूतियों से सुसंपन्न बनने के लिए, आत्म-बल आवश्यक है। उसकी उपयोगिता हमें जाननी ही चाहिए और संसार के इस एकमात्र सारतत्त्व को प्राप्त करने के लिए कुछ उठा न रखना चाहिए। संसार के सारे वैभव आत्म-बल की तुलना में तुच्छ हैं। जिसके पास आत्म-बल है, वही आत्म-भूमिका में जाग्रत हुआ जीवनयुक्त नर-नारायण है। जो आत्म-बल संपन्न है, उसके लिए इस संसार में ऐसा कुछ नहीं, जिसे असंभव कहा जा सके। □

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ

इस संसार में परिस्थितियाँ और पदार्थ बड़ी तेजी से परिवर्तित होते हैं। आज जो दृश्य दिखाई दे रहा है, कल वह कुछ परिवर्तित रूप लिए हुए होगा। कुछ दिन के बाद तो वह सारी स्थिति इस तरह बिंगड़ जाती है, जैसे उसका कोई अस्तित्व ही न था। कभी वन-वृक्षों, लता-बेलों में वसंत-बहार छा जाती है, तो पतझड़ आ जाने पर वह समस्त सुषमा यों लुट जाती है, जैसे वह कभी थी ही नहीं। पतझड़ की नीरवता और उसका उजाड़पन भी वर्षा की छटा में न जाने कहाँ खो जाता है? नाट्यशाला की तरह रंग और दृश्य प्रतिक्षण बदलते हैं, एक आता है, दूसरा जाता है। पर सब कुछ इतने स्थिर भाव से चल रहा है, मानो कोई निश्चित विधान, कुशल नट कहीं एकांत में बैठा हुआ इस परिवर्तनशील जगत का संचालन कर रहा है। सचमुच यह संसार बड़ा रहस्यमय है और इससे भी ज्यादा रहस्यमय वह है, जिसने इसकी रचना की है।

यह दृश्य परिवर्तन कभी मनुष्य को यह प्रेरणा भी देते हैं कि वह इस अनंत रहस्य का ज्ञान प्राप्त करे अथवा इन परिवर्तनों के फलस्वरूप जो उसे भय, शोक, कातरता, विरह, असंतोष आदि दुःख परेशान करते रहते हैं, उनसे मुक्ति पाए और एक

ऐसा आनंद उपलब्ध करे, जो कभी कम न हो, कभी समाप्त न हो।

दूसरे शब्दों में इसे ही ईश्वर प्राप्ति की अभिलाषा, स्वर्ग या मोक्ष का उत्तराधिकार मान सकते हैं। दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो, पर उन सबका सार यही है कि मनुष्य चिर सुख प्राप्त करने का अभिलाषी है। पर यह सुख इतना सरल नहीं है, जो हर किसी को यों ही मिल जाया करे। जब छोटे-छोटे सुखों की प्राप्ति के लिए बड़े प्रयत्न, बड़ी शक्ति, श्रम और साधन जुटाने पड़ते हैं, तो ईश्वर जैसी अनंत सुख प्रदायक वस्तु भला यों ही कैसे मिलने लगी? बड़ी वस्तु का मोल भी बड़ा होता है और वह मिलती भी बड़ी कठिनता से ही है। गहराई में बैठकर उसे खोजने का जो प्रयत्न करते हैं, वही उसे प्राप्त कर पाते हैं। किनारे या उथले जल में गोता लगाने वाले तो अपना समय ही नष्ट करते हैं, अपने साधन ही गँवाते हैं। उन्हें न तो इस लोक के सुख ही मिल पाते हैं और न पारलौकिक आकांक्षाओं की ही तृप्ति होती है।

यह सृष्टि मूलतः दो भागों में विभक्त है। आकार और गुण दोनों ही दृष्टियों से उनमें पृथकता है। (१) रूप जड़ है, जो स्वयं क्रियाशील नहीं, पर है स्थूल अर्थात् सांसारिक दृष्टि से उसका अधिक महत्त्व है। संसार की जितनी भोग-वासनाएँ हैं, वह सब जड़ पदार्थों के द्वारा ही विरचित हुई हैं। इनके मूल में (२) चैतन्य सत्ता काम कर रही है। चेतना की अभिव्यक्ति से जड़ पदार्थ भी मोहक जान पड़ते हैं। पर दरअसल जड़ पदार्थ अपने आप में हमें कुछ देने की सामर्थ्य नहीं रखते।

इस प्रकार पाँच भौतिक प्रकृति और प्राण की चेतना के द्वारा संपूर्ण विश्व में क्रियाशीलता दृष्टिगोचर हो रही है, पर चौंकि मनुष्य भी उसका सम्मिश्रित प्रयोग है। अतः वह भी प्रायः अपने विषय में विभ्रमित ही रहता है। शरीर की स्थूल पाँच भौतिक प्रकृति और प्राण की पृथकता उसे सहज में ही समझ में नहीं

आती, पर संसार के परिवर्तनों और घटनाचक्रों, जन्म-मरण, उत्पत्ति, विनाश के दृश्य जब भी उसे देखने को मिलते हैं, विश्व-व्यवस्था का रहस्य और सृष्टि नियंता का ज्ञान प्राप्त करने की उसे तीव्र अभिलाषा भी होती है। इस प्रकार की बुद्धि किसी को मिल जाए, तो उसे अपने पूर्व जन्मों का संस्कार अथवा परमात्मा की कृपा ही समझना चाहिए। जब तक यह विवेक पैदा नहीं होता, सत्य को जानने की मनुष्य को बहुत कम इच्छा होती है। उसके सांसारिक विषय ही इतने अधिक होते हैं कि उसे उन्हीं से कठिनाई से अवकाश मिल पाता है।

मनुष्य विश्व चेतना का सर्वोपरि, सर्वांगपूर्ण जीव है। चौरासी लाख योनियों में ऐसा सौभाग्य किसी भी जीव को नहीं मिला। सिंह शक्तिशाली ही हो, पर उस बेचारे को विचारशक्ति कहाँ? बंदर पेड़ों पर चढ़कर सुंदर फल प्राप्त कर सकते हैं, पर सरदी से बचने के लिए उन्हें वस्त्र तक प्राप्त नहीं हो सकते। देखने, सुनने, सूँघने, चलने, फिरने, खाने, पीने, सुखोपभोग करने के जितने अधिक अवसर और सुविधाएँ मनुष्य को मिली हैं, उतनी किसी जीव को उपलब्ध नहीं। पर ये शक्तियाँ निश्चय ही उद्देश्यपूर्ण हैं, किसी विशेष लक्ष्यप्राप्ति के लिए वरदान स्वरूप मिली हुई हैं। यह बात विचार क्षेत्र में उतारने और अपना जीवन उद्देश्य प्राप्त करने में ही मनुष्य का आत्म-कल्याण छिपा हुआ है।

यह कोई कठिन बात नहीं है कि मनुष्य को ऐसी सूझ-समझ न आए। ऐसे अवसर, ऐसी घटनाएँ प्रायः हर व्यक्ति के जीवन में आती हैं। पर सामान्य श्रेणी के लोगों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं होता, सौभाग्य से यदि उन्हें ऐसे साधन उपलब्ध हो भी जाएँ, तो वे आत्म-कल्याण के कठिन मार्ग में देर तक टिक नहीं पाते। सांसारिक पदार्थों में गजब का आकर्षण और तीव्र मोहकता होती है। लोग साधना की कठिनाइयों से बड़ी जल्दी अपने को थका हुआ सा

अनुभव करने लगते हैं और जल्दी ही प्रयत्नच्युत होकर पुनः अपने उसी पूर्ववत् जीवनक्रम में लुढ़कने लगते हैं। साधना वस्तुतः मनुष्य जीवन को सफल बनाने वाला महत्त्वपूर्ण साधन है, पर उस पर साहसी व्यक्ति ही अग्रसर हो सकते हैं। कायरों की वहाँ दाल नहीं गलती। पग-पग पर जिसके निश्चय और विचार बदलने वाले हों, वे कठिनाइयों का संवरण देर तक नहीं कर सकते हैं और जल्दी ही उसे छोड़ बैठते हैं।

साधनाएँ ब्रह्मज्ञान या आत्म-वैवर्त के लिए अत्यावश्यक हैं। जीवात्मा पर चढ़े जन्म-जन्मांतरों के संस्कार ऐसे ही होते हैं जैसे लोहे में जंग लग जाती है। जंग छुड़ाने वाली प्रक्रिया निसंसंदेह काफी कठिन है, वह मेहनत से ही पूरी हो सकती है, लोहे को कभी कूटा जाता है, कभी इसे आग में डाल दिया जाता है, फिर पीटते हैं, फिर पानी में डुबाते हैं। चारों तरफ आघात-पर-आघात, तपाईं-पर-तपाईं देने के बाद वही जंग लगा लोहा सुंदर इस्पात के रूप में निकल आता है, फिर उससे किसी भी तरह का औजार, कोई भी अस्त्र-शस्त्र बनाना सरल हो जाता है। जीव को सांसारिक वासनाओं से छुड़ाकर उसको शाश्वत स्वरूप में लाने के लिए भी लोहे के तपाने जैसी क्रियाएँ अनिवार्य हैं। जो इस आग में जल सकता है, आध्यात्मिक जीवन अथवा ईश्वर उपासना का वही सच्चा और पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकता है।

जीवनलक्ष्य को प्राप्त करने की ऐसी अभिलाषा उठते ही मन को बुद्धि के अनुशासन में ले आने की बड़ी आवश्यकता है। दर-असल मनोनिग्रह की कठिनाई ही ईश्वर प्राप्ति की प्रमुख कठिनाई है। मन मनुष्य जीवन का संचालक और महत्तर शक्ति वाला है, पर उसमें एक बुराई भी है। बिंगड़े हुए घोड़ों की तरह यदि वह स्वेच्छाचारी हो जाए, तो न रथ की खैर रहती है और न सारथी की। मनुष्य का मन स्वभावतः अधोगामी है। नीचे गिर जाना सरल बात है। कठिनाई तो उसे ऊँचा उठाने में आती है, पर यह तभी संभव है, जब मन पर

बुद्धि का नियंत्रण-पहरा रहे। बुद्धि मन को ऊर्ध्वगामी बनाती है और कुसंस्कारों को नष्ट करती है। अतः साधननिष्ठ व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह मन की स्वेच्छाचारिता पर बौद्धिक विवेक का अंकुश बनाए रहे।

मन प्रायः यह शासन मानने के लिए तैयार नहीं होता। प्रकृति उसे बार-बार भोग-वासनाओं के लिए आकर्षित करती है। वह समझता है कि इन भोगों से विमुख होने पर हमारी हानि हो रही है। यही माया या अविद्या उसे आत्म-कल्याण के मार्ग से गिरा देने वाला विचार है और उसके बचने का एक ही उपाय है—प्रकृति-जय। मानवीय दुर्बलताओं पर कठोरतापूर्वक संयम किए बिना इस अविद्या से छुटकारा पाना संभव नहीं है। जीवनलक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले प्रत्येक जिज्ञासु को यह बात निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिए।

कठिनाइयों से किसी प्रकार समझौता नहीं हो सकता। लोहे की जंग पानी से धोकर नहीं छुटाई जा सकती। जलती हुई आग में काबू पाने के लिए उससे अधिक मात्रा में जल की अपेक्षा होती है। मन जितना ऊर्धमी होगा, संयम की, उतनी ही कठोरता की आवश्यकता है। पुराने संस्कारों की मलिनता के परिष्कार की गति धीमी हो, तो काम चल सकता है, पर उसमें उत्तरोत्तर दृढ़ता और कठोरता आवश्यक है। परिस्थितियों के साथ दोस्ती साधनानिष्ठ मनोबल को गिरा सकती है।

मनुष्य जीवन जैसी अमूल्य निधि फिर मिलेगी, इसकी कोई निश्चित सुविधा नहीं है। इसी जीवन में दिन रहते कुछ काम बना लिया जाए, तो इसी में बुद्धिमानी है। पचास-साठ अथवा सौ वर्ष के जीवन को भोग और कामनाओं की पूर्ति में ही लगाए रखा जाए, तो उसमें मानव जीवन की क्या सफलता, शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा? भोग-वासनाएँ दुःख का कारण मानी गई हैं। अन्य जन्मों में उनके दुष्परिणाम होते हों या न होते हों, इसे चाहे कोई माने या न

माने पर वासनाएँ इसी जीवन में मनुष्य को तंग करती हैं। दुःख और मुसीबतें पैदा करती हैं, अतः इन्हें कदापि उचित नहीं ठहराया जा सकता। ये मनुष्य जीवन को भ्रष्ट करने वाली हैं। यह बात बहुत गहराई तक विचार लेनी चाहिए। एक बार अवसर निकल जाने के बाद में फिर पछतावा ही शेष रहता है। परिस्थितियाँ बदल जाने के बाद बहुमूल्य वस्तुएँ भी कोई लाभ नहीं दे पातीं, अतः बुद्धिमान लोग समय रहते ही अपने लक्ष्य को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

ईश्वर सब जगह विद्यमान है। उसे ढूँढ़ने में कठिनाई नहीं, कठिनाई तो सिर्फ अपना अहंकार मारने में है। अपने आप को साध लिया जाए, व्रत, संयम और तत्पश्चर्या की आग में अपना अहंकार विगलित कर दिया जाए, तो सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दिखाई देने लगता है।

जब तक मन में मैल है, ईश्वर का प्रकाश कैसे दिखाई देगा? जब तक अपने स्वार्थ से ही हुटकारा नहीं मिलता, तब तक परमात्मा की याद कैसे आ सकती है? इस संसार में पाने के लिए पहले अपना सब कुछ खोना पड़ता है। आत्मा में ईश्वर की प्रतिष्ठा के लिए भी अपना अहंकार नष्ट करना पड़ता है। परिष्कृत आत्मा को ईश्वर-प्राप्ति का सुख मिलते देर नहीं लगती। बीच में मलिनता वाली खाई को दूर कर दिया जाए, तो जीवन लक्ष्य की सिद्धि भी कोई कठिन बात नहीं है।



आत्म-विकास के लिए व्रत पालन की आवश्यकता

आत्म-ज्ञान या शाश्वत जीवन का बोध व्रताचरण के द्वारा होता है। ऊपर चढ़ने की जरूरत पड़ती है, तो सीढ़ी लगाते हैं। एक डंडे को हाथ से पकड़कर दूसरे पर पैर रखते हुए ऊपर आसानी से चढ़ जाते हैं। जीवन में क्रमिक रूप से छोटे-छोटे

ब्रतों से प्रारंभ करके अंत में उन्नत-ब्रत की परिधि प्राप्त करना अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक सरल है। शास्त्रकार का कथन है—

ब्रतेन दीक्षामाजोति दीक्षयामाजोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाजोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

—यजु० १९.३०

“उन्नत जीवन की योग्यता मनुष्य को ब्रत से प्राप्त होती है। इसे दीक्षा कहते हैं। दीक्षा से दक्षिणा अर्थात् जो कुछ कर रहे हैं, उसके सफल परिणाम मिलते हैं। सफलता के द्वारा आदर्श और अनुष्ठान के प्रति श्रद्धा जाग्रत होती है और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।” सत्य का अर्थ मनुष्य के जीवनलक्ष्य से है। यह एक क्रमिक विकास की पद्धति है। ब्रत जिसका प्रारंभ और सत्यप्राप्ति ही जिसका अंतिम निष्कर्ष है।”

ब्रत का आध्यात्मिक अर्थ उन आचरणों से है, जो शुद्ध, सरल और सात्त्विक हों तथा उनका पालन विशेष मनोयोगपूर्वक किया गया हो। यह देखा गया है कि व्यावहारिक जीवन में सभी लोग अधिकांश सत्य बोलते हैं और सत्य का ही आचरण भी करते हैं, किंतु कुछ क्षण ऐसे आ जाते हैं, जब सच बोल देना स्वार्थ और इच्छापूर्ति में बाधा उत्पन्न करता है, उस समय लोग झूठ बोल देते हैं या असत्य आचरण कर डालते हैं। निजी स्वार्थ के लिए सत्य की अवहेलना कर देने का तात्पर्य यह हुआ कि आपकी निष्ठा उस आचरण में नहीं है। इसे ही यों कहेंगे कि ब्रतशील नहीं है।

बात अपने हित की हो अथवा दूसरे की, जो शुद्ध और न्यायपूर्ण हो उसका निष्ठापूर्वक पालन करना ही ब्रत कहलाता है। संक्षेप में आचरण शुद्धता को कठिन परिस्थितियों में भी न छोड़ना ब्रत कहलाता है। संकल्प का छोटा रूप ब्रत है। संकल्प की शक्ति व्यापक होती है और ब्रत उसका एक अध्याय होता है। वस्तुतः ब्रत और संकल्प दोनों एक ही समान हैं।

विपरीत परिस्थितियों में भी हँसी-खुशी का जीवन बिताने का अभ्यास व्रत कहलाता है। इससे मनुष्य में श्रेष्ठ कर्मों के संपादन की योग्यता आती है। थोड़ी-सी कठिनाइयों में कर्म-विमुख होना मनुष्य की अल्प-शक्ति का बोधक है, जो कठिनाइयों में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहे, ऐसी शक्ति व्रत में होती है।

नियम-पालन से मनुष्य में आत्म-विश्वास और अनुशासन की भावना आती है। जीवन के उत्थान और विकास के लिए ये दोनों शक्तियाँ अनिवार्य हैं। आत्म-शक्ति या आत्म-विश्वास के अभाव में मनुष्य छोटे-छोटे भौतिक प्रयोजनों में ही लगा रहता है। अनुशासन के बिना जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। शक्ति और चेष्टाओं का केंद्रीकरण न हो पाने के कारण कोई महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं बन पाती। आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करना और उन्हें मनोयोगपूर्वक जीवन ध्येय की ओर लगाए रखना आचरण में नियमबद्धता से ही हो पाता है। नियमितता व्यवस्थित जीवन का प्रमुख आधार है। आत्म-शोधन की प्रक्रिया इसी से पूरी होती है। आत्मवादी पुरुष का कथन है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्ध्युमुत्सुकः ।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ॥

मैं जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखता हूँ। यह कार्य पवित्र आचरण या आत्मा को शुद्ध बनाने से ही पूरा होता है, इसलिए मैं व्रताचरण की प्रतिज्ञा लेता हूँ।

व्रत-पालन से आत्म-विश्वास के साथ संयम की वृत्ति भी आती है। आत्म-विश्वास शक्तियों का संचय बढ़ाता है और संयम से, शक्तियों से कोष भर जाता है, तो आत्मा अपने आप प्रकट हो जाती है। शक्ति के बिना आत्मा को धारण करने की क्षमता नहीं आती। व्रत शक्ति का स्रोत है, इसलिए आत्म-शोधन की वह प्रमुख आवश्यकता है। अपनी शक्ति और स्वरूप का

ज्ञान मनुष्य को न हो, तो वह जीवन में किसी तरह का उत्थान नहीं कर सकता है। शक्ति आती है तभी आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है और मनुष्य विकास की ओर तेजी से बढ़ता चलता है।

ऊँचे उठने की आकांक्षा मनुष्य की आध्यात्मिक प्रतिक्रिया है। पूर्णता प्राप्त करने की कामना मनुष्य का प्राकृतिक गुण है, किंतु हम जीवन को अस्त-व्यस्त बनाकर लक्ष्य च्युत हो जाते हैं। हर कार्य की शुरुआत छोटी कक्षा से होती है, तब कठोरता की ओर बढ़ पाते हैं। आत्म-ज्ञान के महान लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रारंभिक कक्षा व्रत-पालन ही है, इसी से हम मनुष्य जीवन को सार्थक बना सकते हैं। व्रताचरण से ही मनुष्य महान बनता है, यह पाठ जितनी जल्दी सीख लें, उतना ही श्रेयस्कर है।

